परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

❊ जन्मदिवस 19–03–1971 ❊ मुनिदीक्षा–11–05–1989 ❊ आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

श्रावकधर्म और उसकी प्रासंगिकता

लेखक
डॉ.सागरमल जैन

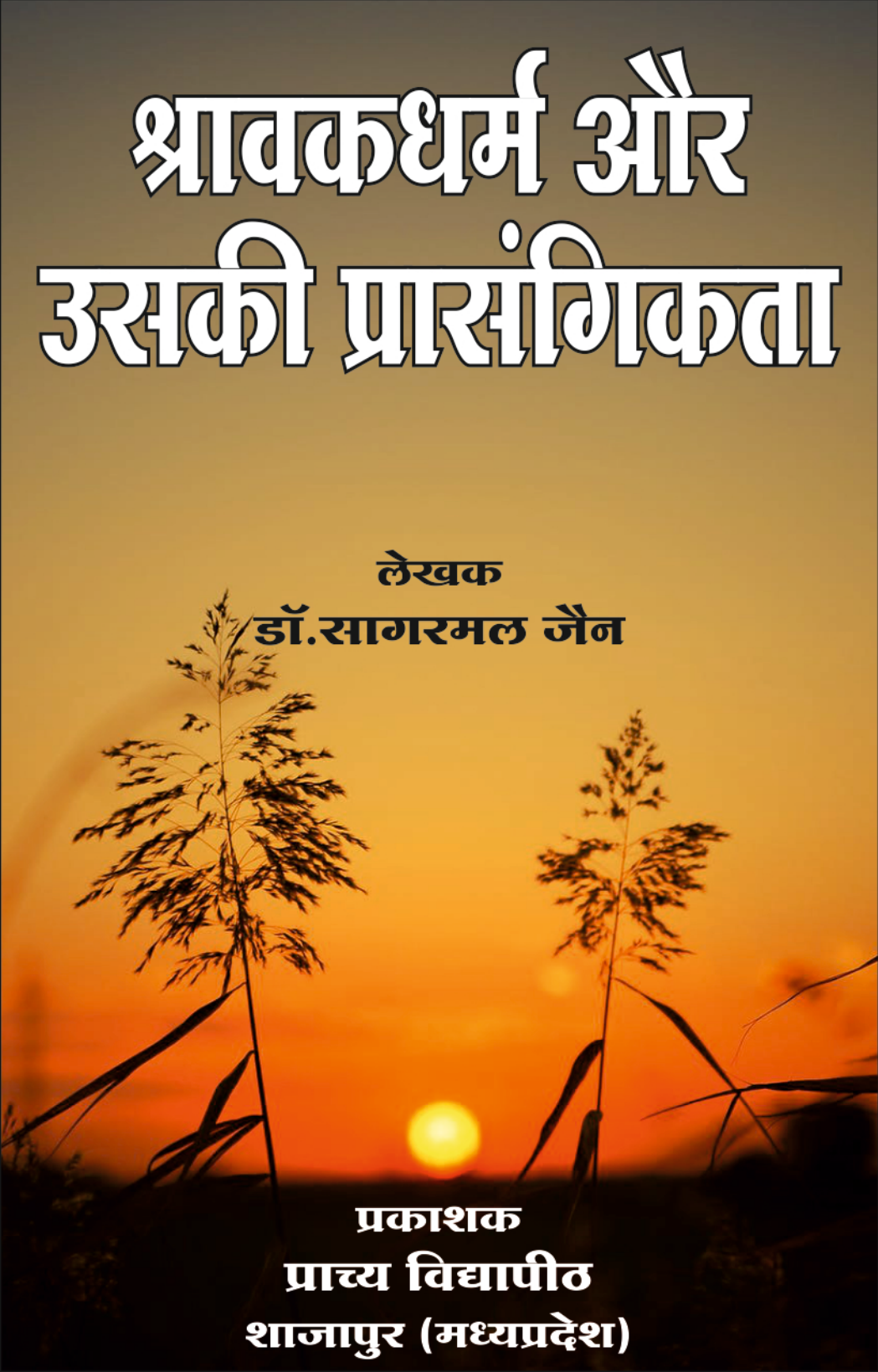

प्रकाशक
प्राच्य विद्यापीठ
शाजापुर (मध्यप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

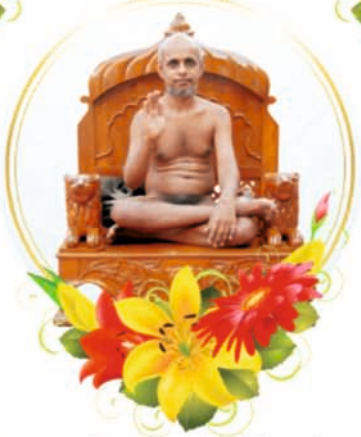

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

श्रावक धर्म और उसकी प्रासंगिकता

लेखक

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर (म.प्र.)

श्रावक धर्म और उसकी प्रासंगिकता

गृहस्थ वर्ग का उत्तरदायित्व

जैन धर्म श्रमण परम्परा का धर्म है। दूसरे शब्दों में वह निवृत्तिमार्गी या सन्यासमार्गी धर्म है। यह बात भी निस्संकोच रूप से स्वीकार की जा सकती है कि वैदिक परम्परा के विपरीत उसमें सन्यास का चरम आदर्श स्वीकार किया गया हैं किन्तु इस आधारपर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि जैनधर्म में गृहस्थ या उपासक वर्ग का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है, अनुचित ही होगा। चाहे जैनधर्म के प्रारम्भिक युग में सन्यास को अधिक महत्ता मिली हो, किन्तु आगे चलकर जैन परम्परा में गृहस्थ धर्म को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। जैन धर्म में जो चतुर्विध संघ व्यवस्था हुई, उसमें साधु – साध्वियों के साथ ही श्रावकों और श्राविकाओं को भी स्थान दिया गया। मात्र यही नहीं, श्रावक और श्राविकाओं को श्रमणों और श्रमणियों के माता–पिता के रूप में स्वीकार किया गया। दूसरे शब्दों में उन्हें साधु – साध्वियों का संरक्षक मान लिया गया। वैदिक परम्परा में भी गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों का मूल बताया गया था, प्रकारान्तर से इसे जैन परम्परा में गृहस्थ वर्ग को श्रमण वर्ग का संरक्षक एवं आधार मानकर स्वीकार कर लिया गया। जैन परम्परा में गृहस्थ उपासक न केवल इसलिए महत्वपूर्ण था कि वह श्रमणों के भोजन, स्थान आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करता था अपितु उसे श्रमण साधकों के चरित्र का प्रहरी भी मान लिया गया। कुछ समय पूर्व तक श्रावक वर्ग की महत्ता अक्षुण्ण थी। उसे यह अधिकार प्राप्त था कि यदि कोई साधु या साध्वी श्रमण मर्यादाओं का सम्यग्रूपेण पालन नहीं करता है तो वह उनका वेश लेकर उन्हें श्रमण संघ से पृथक कर दे। इसी प्रकार मुनि एवं आर्यिका वर्ग में प्वेश के लिए भी श्रावक संघ की अनुमति आवश्यक थो।

वर्तमान युग में साधु – साध्वियों के आचार में जो शिथिलता प्राप्त होती जा रही हैं, उसका एकमात्र कारण यही है कि गृहस्थवर्ग मुनि आचार से अवगत न रहने के कारण अपने उपर्युक्त कर्त्तव्य को भूल गया हैं। आज हमें इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि जैनधर्म और संस्कृति की रक्षा का दायित्व मुनिवर्ग की अपेक्षा

गृहस्थ वर्ग पर ही अधिक है और यदि वह अपने इस दायित्व की उपेक्षा करेगा, तो अपनी संस्कृति एवं धर्म की सुरक्षा करने में असफल रहेगा।

यह तो हुआ केवल समाज या संघ व्यवस्था की दृष्टि से श्रावकवर्ग का महत्व एवं उत्तरदायित्व। किन्तु न केवल सामाजिक दृष्टि से अपितु आध्यात्मिक एवं साधनात्मक दृष्टि से भी गृहस्थ का स्थान उतना निम्न नहीं हैं, जितना कि सामान्यतया मान लिया जाता हैं। सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से निर्देश है – 'आरम्भ नो आरम्भ' (गृहस्थ धर्म) का यह स्थान भी आर्य हैं तथा समस्त दुःखों का अन्त करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी पूर्णतया सम्यक् एवं साधु है। मात्र यही नहीं, उत्तराध्ययन सूत्र में तो स्पष्ट रूप से यहाँ तक कह दिया है कि चाहे सभी समान्य गृहस्थों की अपेक्षा श्रमणों को श्रेष्ठ मान लिया जाये किन्तु कुछ गृहस्थ ऐसे भी है जो श्रमणों की अपेक्षा संयम के परिपालन में श्रेष्ठ होते हैं। बात स्पष्ट और साफ है कि आध्यात्मिक साधना का सम्बन्ध न केवल वेश से है और न केवल आचार के बाह्य नियमों से, अपितु समाज या संघ – व्यवस्था की दृष्टि में बाह्य आचार – नियमों का पालन आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट रूप से यह बात भी स्वीकार कर ली गयी है कि गृहस्थ जीवन से भी निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मरूदेवी और भरत के उदाहरण लोकविश्रुत हैं। यदि गृहस्थ धर्म से भी परिनिर्वाण या मुक्ति सम्भव है – तो इस विवाद का कोई अधिक मूल्य नहीं रह जाता कि मुनिधर्म और गृहस्थ धर्म में साधना का कौनसा मार्ग श्रेष्ठ हैं। वस्तुतः आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में श्रेष्ठता और निम्नता का आधार आध्यात्मिक जागरूकता, अप्रमत्तता और निराकुलता हैं, जिसने अपनी विषय वासनाओं और कषायों पर नियन्त्रण पा लिया है, जिसका चित्त निराकुल और शान्त हो गया है, जो अपने कर्तव्यपथ पर पूरी ईमानदारी से चल रहा है फिर चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि, उसकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में न तो वेश महत्वपूर्ण हैं और न बाह्य आचार, अपितु उसमें महत्वपूर्ण हैं अन्तरात्मा की निर्मलता और विशुद्धता। अन्तर की निर्मलता ही साधना का मूलभूत आधार हैं।

गृहस्थ धर्म की श्रेष्ठता का प्रश्न

गृहस्थधर्म और मुनिधर्म में यदि साधना की दृष्टि से हम श्रेष्ठता की बात करें तो भी वस्तुतः गृहस्थ जीवन ही अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होगा। वीतरागता की साधना के लिए संन्यास एक निरापद मार्ग हैं, क्योंकि गृहस्थ जीवन में रहकर वीतरागता की साधना

करना अधिक कठिन है। क्योंकि साधक जीवन में विघ्नों से दूर रहकर निर्दोष चरित्र का पालन करना उतना कठिन नहीं है, जितना कि विघ्नों के बीच रहकर उसका पालन करना। संन्यास मार्ग एक ऐसा मार्ग है, जिसमें अनासक्ति या वीतरागता की साधना के लिए विघ्न – बाधाओं की सम्भावना कम होती है। सन्यासमार्ग की साधना कठोर होते हुए भी सुसाध्य है, जबकि गृहस्थ मार्ग की साधना व्यावहारिक दृष्टि से सुसाध्य प्रतीक होते हुए भी दुःसाध्य है, क्योंकि आध्यात्मिक विकास के लिए जिस अनासक्त चेतना की आवश्यकता है, वह संन्यस्त जीवन में सहज प्राप्त हो जाती है उसमें चित्त विचलन के अवसर अति न्यून होते है, जबकि गृहस्थ जीवन में चित्त विचलन के अवसर अत्यधिक हैं। गिरि – कन्दरा में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन उतना कठिन नहीं है, जितना कि नारियों (सुन्दरियों) के मध्य रहकर उसका पालन करना। प्रेमिका वेश्या के घर में चातुर्मास के लिए स्थित होकर ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले स्थूलि भद्र को उन सैकड़ों – हजारों मुनियों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया, जो गिरि – कन्दराओं में रहकर मुनिधर्म की साधना कर रहे थे। क्या विजय सेठ और सेठानी की ब्रह्मचर्य की कठोर साधना की तुलना किसी गृहस्थ जीवन का परित्याग करने वाले मुनि की ब्रह्मचर्य साधना से की जा सकती हैं ? राग – द्वेष, आसक्ति और ममत्व के प्रसंगों की उपस्थिति गृहस्थ जीवन में अधिक होती है – उन प्रसंगों में भी जो अपने को निराकुल और नियंत्रित रख सकता है, वह महान है।

सन्यास मार्ग में तो इन प्रसंगों की उपस्थिति के अवसर ही अत्यल्प होते हैं। अतः संन्यास मार्ग निरापद और सरल है। गृहस्थ धर्म से आध्यात्मिक विकास की ओर जाने वाला मार्ग फिसलन भरा है, जिसमें कदम – कदम पर सजगता की आवश्यकता है। यदि साधक एक क्षण के लिए भी वासना के आवेगों में नही संभला तो उसका पतन हो जाता है। वासनाओं के बवण्डर के मध्य रहते हुए भी उनसे अप्रभावित रहना सरल नही हैं। अतः कह सकते हैं कि गृहस्थ जीवन की साधना मुनि जीवन की साधना की अपेक्षा अधिक दुःसाध्य हैं और जो ऐसे साधन – पथ पर चलकर आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त करता है, वह मुनियों की अपेक्षा कई गुना श्रेष्ठ है।

वस्तुतः गृहस्थ धर्म का पालन इसलिए अधिक दुःसाध्य है कि उसमें काजल की कठोरी में रहकर भी अपनी चरित्र रूपी चादर को बेदाग रखना होता है। काजल की कोठरी से बाहर रहकर तो कोई भी चरित्र रूपी चादर को बेदाग रख सकता है, किन्तु कोठरी में रहते हुए उसे बेदाग रख पाना अधिक सजगता और आत्मनियन्त्रण की

अपेक्षा रखता है। फिसलन भरे रास्ते में चलकर जो साधना की ऊँचाइयों तक पहुँचता है, उसकी महत्ता तो कुछ और ही है। संसार और वासना रूपी कर्दम में रहकर भी कमलपत्र के समान अलिप्त रहना निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं।

यद्यपि मेरे यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मैं मुनि जीवन की महत्ता और गरिमा को नकार रहा हूँ, इस विषय वासनारूपी काजल की कोठरी से निकल कर उन पर नियन्त्रण कर लेना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। मुनि जीवन की अपनी साधनागत गरिमा और महत्ता हैं, उसे मैं अस्वीकार नही करता। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि जो गृहस्थ जीवन में रहकर भी साधना की उन्हीं आध्यात्मिक ऊँचाइयों को छू लेता है, जिसे एक मुनि छूता है तो वह गृहस्थ मुनि से श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययन में गृहस्थ को मुनि की अपेक्षा जो श्रेष्ठ कहा गया है, वह इसी अपेक्षा से कहा गया है।

अपनी अस्मिता को पहचानें

गृहस्थ धर्म की इस महत्ता के प्रतिपादन का एकमात्र उद्देश्य यही है कि हम अपने पद की महिमा को समझें। वर्तमान संदर्भो में इस महत्ता और गरिमा का प्रतिपादन इसलिए आवश्यक है कि आज का श्रावक वर्ग न केवल अपने कर्तव्यों और दायित्वों को भूल बैठा है, अपितु वह अपनी अस्मिता को भी खो बैठा है। आज ऐसा समझा जाने लगा है कि धर्म और संस्कृति का संरक्षण तथा अध्यात्मिकता साधना सभी कुछ साधुओं का काम है। गृहस्थ तो मात्र उपासक है, उसके कर्तव्य की इतिश्री साधु – साध्वियों को दान देने तक ही ह। आज हमें इस बात का अहसास करना होगा कि जैन धर्म की संघ – व्यवस्था में हमारा क्या और कितना गरिमामय स्थान है ? खाट के चार पायों में अगर एक चरमराता और टूटता है तो दूसरों का अस्तित्व निरापद नहीं रह सकता। यदि श्रावक वर्ग अपने कर्तव्यों दायित्वों एवं अपनी गरिमा को विस्मृत करता है तो संघ के शेष घटकों का अस्तित्व भी निरापद नहीं रह सकता।

आज वास्तविक स्थिति यह है कि हमारा श्रमण और श्रमणी वर्ग भी शिथिलाचार में आकण्ठ डूबाता जा रहा है। यदि कोई उसके अन्दर झाँककर देखता है तो उसके अन्दर रही हुयी सड़ांध से अपना मुँह नफरत से फेर लेता है। आज जिन्हें हम आदर्श और वन्दनीय मान रहे हैं, उनके जीवन में छल, छद्म, दुराग्रह, अहं के पोषण की प्रवृत्तियाँ और वासनामय जीवन के प्रति ललक को देखकर मन पीड़ा से भर उठता है, किन्तु उनके इस पतन का उत्तरदायी दूसरा कोई नहीं, श्रावक वर्ग ही है। या तो हमने उन्हें इस

पतन के मार्ग की ओर ढकेला हैं या फिर कम से कम उनके सहभागी बने हैं। साधु – साध्वियों में शिथिलाचार हमारे प्रश्रय से बढ़ता हैं, यह सत्य है कि आज श्रावक, उनमें भी विशेष रूप से सम्पन्न श्रावक वर्ग धर्म के नाम पर होने वाले बाह्याडम्बरों में अधिक रूचि ले लेता है – उनकी और उनके तथाकथित गुरूओं दोनों की रूचि धर्म के नाम पर अपने–अपने अहं का पोषण करने की है। वही साधु और वही श्रावक अधिक प्रतिष्ठित होता है, जो जितनी भीड़ इकट्ठी करता है। जो मजमा जमाने में जितना अधिक कुशल है, वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित है। इस सब में साधना – प्रिय साधु और श्रावक तो कहीं ओझल हो गये हैं। मैं यह सब जो कुछ कह रहा हूँ उसका कारण मुनिवर्ग के प्रति मेरी दुर्भावना नहीं है, अपितु उस यथार्थता को देखकर जो एक पीड़ा और व्यथा है, उसी का प्रकटन है। बाल्याकाल से लेकर जीवन की इस प्रौढावस्था तक मैंने संघ को अति निकट से देखा और परखा है एवं उस निकटता में मैंने जो कुछ अनुभव किया है, उसी यर्थाथता की बात कह रहा हूँ। हो सकता है कि इसके कुछ अपवाद हों, लेकिन सामान्य स्थिति यही है। जीवन का दोहरापन आज मुनिवर्ग का यथार्थ बनता जा रहा है, लेकिन इन सबके लिए मैं अपने को और अपने साथ ही गृहस्थ वर्ग को अधिक उत्तदायी मानता हूँ।

आज का गृहस्थ वर्ग न केवल अपने संरक्षक होने के दायित्व को भूला है, अपितु वह स्वयं अपनी अस्मिता को खोकर चारित्रिक पतन की ओर तेजी से गिरता जा रहा है। जब हम ही नहीं संभलेगे तो दूसरों को संभालने की बात क्या करेंगे। आज का गृहस्थ वर्ग जिस पर जैन धर्म और संस्कृति के संरक्षण का दायित्व है, उसका ज्ञान और आचरण दोनों ही दिशाओं में तेजी से पतन हुआ है। आज हमारी स्थिति यह है कि हमें न तो श्रमण जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का बोध है और न हम गृहस्थ जीवन के आवश्यक कर्तव्यों और दायित्वों के सन्दर्भ में ही कोई जानकारी रखते हैं। आगम ज्ञान तो बहुत दूर की बात है, हमें श्रावक–जीवन के सामान्य नियमों का भी बोध नहीं है। दूसरी ओर जिन सप्त व्यसनों से बचना श्रावक–जीवन की सर्वप्रथम भूमिका और आध्यात्मिक साधना का प्रथम चरण है और जिनके आधार पर वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक सुख–शान्ति निर्भर हैं, वे दुर्व्यसन तेजी से समाज में प्रविष्ट होते जा रहे हैं वे जितनी तेजी से और व्याप्त होते जा रहे हैं उतनी तेजी से वे हमारे धर्म और संस्कृति के अस्तित्व के लिए एक बहुत बड़ा खतरा बनते जा रहे हैं। जैन परिवारों में प्रविष्ट होता हुआ मद्यपान और सामिष आहार क्या हमारी सांस्कृतिक गरिमा के मूल पर ही प्रहार

नहीं है ? किसी भी धर्म और संस्कृति का टिकाव और विकास उसके ज्ञान और चरित्र के दो पक्षों पर निर्भर करता हैं, किन्तु आज का गृहस्थ वर्ग इन दोनो ही क्षेत्रों में तेजी से पतन की ओर बढ़ रहा है। आज स्थिति यह है कि धर्म केवल दिखावे में रह गया है। वह जीवन से समाप्त होता जा रहा है। किन्तु हमें यह याद रखना होगा कि धर्म यदि जीवन में नहीं बचेगा तो उसका बाह्य कलेवर बहुत दिनों तक नहीं रह पायेगा। जिस प्रकार शरीर से चेतना के निकल जाने के बाद शरीर सड़ांध मारने लगता है, वही स्थिति आज धर्म की हो रही है। कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों को छोड़कर यदि सामान्य रूप से कहूँ तो आज चाहे वह मुनि वर्ग हो या गृहस्थ वर्ग, जीवन से धर्म की आत्मा निकल चुकी है। हमारे पास केवल धर्म का कलेवर शेष बचा है और हम उसे ढो रहे हैं। यह सत्य है कि विगत कुछ वर्षो में धर्म के नाम पर शोर – शराबा बढ़ा है, भीड़ अधिक इकट्ठी होने लगी है, मजमें जमने लगे हैं किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यह सब धर्म के कलेवर की अन्त्येष्टि की तैयारी से अधिक कुछ नहीं है।

सम्भवतः अब हमें सावधान हो जाना चाहिए, अन्यथा हम अपने अस्तित्व को खो चुके होंगे। जैसा कि मैंने पूर्व में कहा इस सबके लिए अन्तिम रूप से कोई भी उत्तरदायी ठहराया जायेगा तो वह गृहस्थ वर्ग ही होगा। जैनधर्म में गृहस्थ वर्ग की भूमिका दोहरी है। वह साधक भी हैं और साधकों का प्रहरी भी। आज जब हम श्रावक धर्म की प्रासंगिकता की चर्चा करना चाहते हैं तो हमें पहले उस यथार्थ की भूमिका को देख लेना होगा, जहाँ आज का श्रावक वर्ग जी रहा है। श्रावक जीवन के जो आदर्श और नियम हमारे आचार्यों ने प्रस्तुत किये हैं, उनकी प्रासंगिकता तो आज भी उतनी ही है, जितनी उस समय थी, जबकि उनका निर्माण किया गया होगा। क्या सप्त दुर्व्यसनों के त्याग, मार्गानुसारी गुणों के पालन एवं श्रावक के अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों की उपयोगिता और प्रासंगिकता को कभी भी नकारा जा सकता हैं ? वे तो मानव जीवन के शाश्वत मूल्य हैं, उनके अप्रासंगिक होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

सम्यक् – दर्शन : गृहस्थ धर्म का प्रवेशद्वार

श्रावक धर्म की भूमिका को प्राप्त करने के पूर्व सम्यक् दर्शन की प्राप्ति आवश्यक मानी गई है। जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन के अर्थ में एक विकास देखा जाता है। सम्यक् दर्शन का प्राथमिक अर्थ आग्रह और व्यामोह से रहित, यथार्थ दृष्टिकोण रहा है वह यथार्थ वीतराग जीवन दृष्टि था। कालान्तर में वह जिनप्रणीत तत्त्वों के प्रति निश्चल

श्रद्धा के रूप में प्रचलित हुआ। वर्तमान सन्दर्भों में सम्यक् दर्शन का अर्थ देव, गुरू और धर्म के प्रति श्रद्धा हैं। सामान्यतया वीतराग को देव, निर्ग्रन्थ मुनि को गुरू और अहिंसा को धर्म मानने को सम्यक् दर्शन कहा गया है। यह सत्य है कि साधना के क्षेत्र में बिना अटल श्रद्धा या निश्चल आस्था के आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। 'संशयात्मा विनश्यति' की उक्ति सत्य है। जब तक साधक के मन में श्रद्धा का विकास नहीं होता, तब तक वह साधना के क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता, न केवल धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा की आवश्यकता है अपितु हमारे व्यावहारिक जीवन में भी वह आवश्यक है। वैज्ञानिक गवेषणा का प्रारम्भ बिना किसी परिकल्पना (Hypothesis) की स्वीकृति के नहीं होता है। गणित के अनेक सवालों को हल करने के लिए प्रारम्भ में हमें मानकर ही चलना होता है। कोई भी व्यवसायी बिना इस बात पर आस्था रखे कि ग्राहक आयेंगे और माल बिकेगा, अपने व्यवसाय का प्रारम्भ नहीं कर सकता। कोई भी पथिक अपने गन्तव्य को जाने वाले मार्ग के प्रति आस्थावान् हुए बिना उस दिशा में कोई गति नहीं करता। लोकजीवन और साधना सभी क्षेत्रों मे आस्था और विश्वास अपेक्षित है, किन्तु हमें आस्था (श्रद्धा) और अन्धश्रद्धा में भेद करना होगा। जैन आचार्यों ने गृहस्थोपासक के लिए जिस सम्यक् श्रद्धा की आवश्यकता बताई है, वह विवेक समन्वित श्रद्धा है। आचार्य समन्तभद्र ने अपने श्रावकाचार में धर्म के नाम पर प्रचलित लौकिक मूढ़ताओं से बचने का स्पष्ट निर्देश किया हैं। किन्तु वर्तमान सन्दर्भों में हमारा सम्यक् दर्शन स्वयं इन मूढ़ताओं से आक्रान्त होता जा रहा है। आज सम्यक् दर्शन को, जो कि एक आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति से फलित उपलब्धि है, लेन – देन की वस्तु बना दिया गया है। आज हमारे तथाकथित गुरूओं के द्वारा सम्यक्त्व दिया और लिया जा रहा है। कहा जाता है "अमुक गुरू की सम्यक्त्व वोसरा दो (छोड़ दो) और हमारी सम्यक्त्व ग्रहण कर लो" यह तो सत्य है कि गुरूजन साधक को देव, गुरू और धर्म का यथार्थ स्वरूप बता सकते है, किन्तु सम्यक्त्व भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे किसी को दिया और लिया जा सकता है। मेरी तुच्छ बुद्धि में यह बात समझ में नहीं आती है कि सम्यक्त्व क्या कोई बाहरी वस्तु है, जिसे कोई दे या ले सकता है। सम्यक्त्व परिवर्तन के नाम पर आज जो साम्प्रदायिक घेराबन्दी की जा रही है, वह मिथ्यात्व के पोषण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उसके आधार पर श्रावकों में दरार डाली जा रही है और लोगों के मन में यह बात बैठायी जा रही है कि हम ही केवल सच्चे गुरू हैं और हम जो कह रहे हैं, वह वीतराग की वाणी है। सम्यक्त्व के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ हम गुरूडमवाद के

दलदल में फंसते चले जा रहे हैं।

आज वीतरागता के प्रति हमारी श्रद्धा कितनी जर्जरी हो चुकी है, इसका प्रमाण यही है कि आज सामान्य मुनिजनों, आचार्यों से लेकर गृहस्थ उपासक तक सभी लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए वीतराग की निष्काम भक्ति को भूलकर तीर्थंकर, देवी–देवताओं की सकाम भक्ति में लगे हुए हैं। आज वीतराग तीर्थंकर देव के स्थान पर पद्मावती, चक्रेश्वरी, भौमियाजी, घंटाकर्ण महावीर और नाकोड़ा भैरव अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। हमारे अधिकांश साधु – साध्वी ही नहीं, आचार्य तक यक्षों और देवियों की साधना में लगे हैं। वीतरागता के उपासक इस धर्म में आज तन्त्र–मन्त्र, जादू–टोना सभी कुछ प्रविष्ट होते जा रहे हैं। हमारे वीतरागता के साधक कहे जाने वाले मुनिजन भी अपनी चमत्कार–शक्ति का बड़े गौरव के साथ बखान करते हैं। जिस धर्म की उत्पत्ति लौकिक मूढ़ताओं और अन्ध–श्रद्धाओं को समाप्त करने के लिए हुई हो, वही आज अन्ध – विश्वासों में आकण्ठ डूबता जा रहा है। हमारी आस्थाएँ वीतरागता के साथ न जुड़कर लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए जुड़ रही हैं। आज महावीर के पालने की अपेक्षा लक्ष्मीजी का स्वप्न महंगा बिकाता है। यदि हमारी आस्थएँ धर्म के नाम पर लौकिक एषणाओं की पूर्ति तक ही सीमित हैं, तो फिर हमारा वीतराग के उपासक होने का दावा करना व्यर्थ है। आज जब हम गृहस्थ धर्म की प्रासंगिकता की चर्चा करना चाहते हैं तो हमें इस यथार्थ स्थिति को समझ लेना होगा जीवन में या साधना के क्षेत्र में सम्यक् श्रद्धा की कितनी आवश्यकता है यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है, किन्तु श्रद्धा के नाम पर अन्धविश्वासों का जो एक दुश्चक्र हम पर हावी होता जा रहा है, उससे कैसे बचा जाय? यही आज का महत्वपूर्ण प्रश्न है। वस्तुतः इस सबका मूल कारण यह है कि आज श्रावक वर्ग को धर्म के यथार्थ स्वरूप का कोई बोध नहीं रह गया है। हमारी श्रद्धा समझपूर्वक स्थिर नहीं हो रही है श्रद्धा का तत्त्व व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास कर सकता है लेकिन यह तभी सम्भव है, जब श्रद्धा ज्ञानसम्मत हो और हमारी विवेक की आँखे खुली हो। आज हम उस उक्ति को भूल गये हैं जिसमें कहा गया है 'पण्णा समिम्खए धम्मं' अर्थात धर्म के स्वरूप की प्रज्ञा के द्वारा समीक्षा करो।

कषाय – जय : गृहस्थ धर्म की साधना की आधार – भूमि

श्रावक धर्म और उसकी प्रासंगिकता की चर्चा करते समय हमें श्रावक – आचार के मूलभूत नियमों की वर्तमान युग में क्या उपयोगिता है ? इस पर विचार कर

लेना होगा। जैन धर्म के अनुसार श्रावकत्व की भूमिका को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति को क्रोध, मान, माया और लोभ–इन चार कषायों की अतितीव्र, अनियन्त्रित, नियन्त्रित और अत्यल्प इन चार अवस्थाओं में से प्रथम दो अवस्थओं पर विजय – प्राप्ति को अपरिहार्य माना गया है। साधक जब तक अपने क्रोध, मान, माया और लोभ पर नियन्त्रण रखने की क्षमता को विकसित नहीं कर लेता, तब तक वह श्रावकत्व की भूमिका को प्राप्त करने योग्य नहीं होता है। श्रावक धर्म के पालन के लिए उपर्युक्त चतुर्विध कषायों पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास आवश्यक है। जब तक व्यक्ति अपने क्रोध, मान, माया, लोभ – इन चार कषायों पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण कर पाने में अक्षम होता हैं, तब तक वह श्रावक धर्म की साधना नहीं कर सकता। क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर लेने की क्षमता का विकास हो जाना ही श्रावक धर्म की उपलब्धि का प्रथम चरण है।

वर्तमान सन्दर्भों में इन चारों अशुभ आवेगों के नियन्त्रण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैनागमों के अनुसार क्रोध का तत्व पारस्परिक सौहार्द (प्रीति) को समाप्त करता है और सौहार्द के अभाव में एक दूसरे के प्रति सन्देह और आशंका होती है। यह स्पष्ट हैं कि सामाजिक जीवन में पारस्परिक अविश्वास और आशंकाओं के कारण असुरक्षा का भाव पनपता है और फलतः हमें अपनी शक्ति का बहुत कुछ अपव्यय करना पड़ता हैं। आज अन्तर्राष्ट्रिय क्षेत्र में जो शस्त्र–संग्रह और सैन्य – बल बढ़ाने की प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है और जिस पर अधिकांश राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय का 50 प्रतिशत से अधिक व्यय हो रहा है, वह सब इस पारस्परिक अविश्वास का परिणाम है। आज धार्मिक और सामाजिक जीवन में जो असहिष्णुता है, उसके मूल में घृणा, विद्वेष एवं आक्रोश का तत्त्व ही है। यह ठीक है कि व्यक्ति जब तक परिवार, समाज एवं राष्ट्र से जुड़ा है, तब तक उसमें किसी सीमा तक क्रोध या आक्रोश होना आवश्यक है, अन्यथा उसका अस्तित्व ही खतरें में होगा, किन्तु उसे नियन्त्रण में होना चाहिये और अपरिहार्य स्थिति में ही उसका प्रकटन होना चाहिए।

हमारे पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों में दरार का दूसरा महत्वपूर्ण कारण व्यक्ति का अहंकार या घमंड है। एक गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी अस्मिता एवं स्वाभिमान का बोध रखे, किन्तु उसे अपने अहंकार पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। समाज में जो विघटन या टूटना पैदा होती है, उसका मुख्य कारण समाज के कर्णधारों, फिर चाहे वे गृहस्थ हो या मुनि, का अहंकार ही हैं। अहंकार पारस्परिक

विनय एवं सम्मान में भी बाधक होता है। इससे दूसरों के अहं पर चोट पहुँचती हैं और उसके परिणाम स्वरूप सामाजिक सम्बन्धों में दरार पड़ने लगती है। अहंकार पर चोट लगते ही व्यक्ति अपना अलग अखाड़ा जमा लेता है, जिसके परिणाम स्वरूप धर्मिक एवं साम्प्रदायिक संघर्ष होते हैं। सभी साम्प्रदायिक अभिनिवेशों के पीछे कुछ व्यक्तियों के अपने अहं के पोषण की भावना के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नही है।

कपटवृत्ति या दोहरा जीवन वर्तमान सामाजिक जीवन का एक सबसे बड़ा अभिशाप हैं। झूठे अहं के पोषण के निमित्त अथवा अपने व्यक्तिगत स्वार्थो को साधने के लिए जो छल – छद्म सामाजिकजीवन में बढ़ रहे हैं, उसका मूलभूत कारण कपट – वृत्ति (माया) ही है।

इस प्रकार अनियन्त्रित लोभ संग्रहवृत्ति का विकास करता है और उसके कारण शोषण पनपता है और परिणाम स्वरूप समाज में गरीब और अमीर की खाई बढ़ती जाती है। पूँजीपति और श्रमिकों के मध्य होने वाला वर्ग–संघर्ष इसी लोभवृत्ति या संग्रहवृत्ति का परिणाम है। आज जैन समाज में अपरिग्रह की अवधारणा का कोई अर्थ ही नही रह गया है। उसे केवल मुनियों के सन्दर्भ में ही समझा जाने लगा है। जैन धर्म में गृहस्थोपासक के लिए धनार्जन का निषेध नहीं किया गया, पर यह अवश्य कहा गया है कि व्यक्ति को एक सीमा से अधिक संचय नहीं करना चाहिए। उसकी संचयवृत्ति या लोभ पर नियन्त्रण होना चाहिए। आज समाज में जो आर्थिक वैषम्य बढ़ता जा रहा है। उसके पीछे अनियंत्रित लोभ या संग्रहवृत्ति ही मुख्य है। यदि धनार्जन के साथ ही व्यक्ति की अपने भोग की वृत्ति पर अंकुश होता है और संग्रह–वृत्ति का परिसीमन होता हैं, तो वह अर्जित धन का प्रवाह लोक मंगल के कार्यो में होता हैं, जिससे सामाजिक सौहार्द और सहयोग बढ़ता है तथा धनवानों के प्रति अभावग्रस्तों के मन में सद्भाव उत्पन्न होता हैं। जैन धर्म के इतिहास में ऐसे अनेक श्रावकरत्नों के उदाहरण हैं, जिन्होंने अपनी समग्र सम्पत्ति को समाजहित में समर्पित कर दिया, आज उसी आदर्श के पुनर्जागरण की आवश्यकता है।

संक्षेप में सामाजिक जीवन में जो भी विषमता और संघर्ष वर्तमान में हैं, उन सबके पीछे कहीं न कहीं अनियन्त्रित आवेश, अहंकार छल – छद्म (कपट–वृत्ति) तथा संग्रहवृत्ति हैं। इन्हीं अनियन्त्रित कषायों के कारण सामाजिक जीवन में विषमता और अशान्ति उन्पन्न होती हैं। आवेश या अनियन्त्रित क्रोध के कारण पारस्परिक संघर्ष, आक्रमण युद्ध एवं हत्याएं होती हैं। आवेशपूर्ण व्यवहार दूसरों के मन में अविश्वास

उत्पन्न करता है और फलतः सामान्य जीवन में जो सौहार्द होना चाहिए, वह भंग हो जाता है। गर्व या अहंकार की मनोवृत्ति के कारण ऊँच – नीच का भेदभाव, घृणा और विद्वेष पनपते हैं। सामाजिक जीवन में जो दरारें उत्पन्न होती हैं, उनका आधार अहंकार ही होता हैं। माया या कपट की मनोवृत्ति भी जीवन को छल – छद्म से युक्त बनाती ह। इससे जीवन में दोहरापन आता है तथा अन्तर – बाह्य की एकरूपता समाप्त हो जाती है। फलतः मानसिक एवं सामाजिक शांति भंग होती है। संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण और व्यावसायिक जीवन में अप्रमाणिकता फलित होती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि श्रावक जीवन के कषाय चतुष्टय पर जो नियन्त्रण लगाने की बात कही गई है, वह सौहार्द एवं सामञ्जस्यपूर्ण जीवन एवं मानसिक तथा सामाजिक शान्ति के लिये आवश्यक है। उसकी प्रासंगिकता कभी भी नकारी नहीं जा सकती है।

सप्त दुर्व्यसन – त्याग और उसकी प्रासंगिकता

सप्त दुर्व्यसनों का त्याग गृहस्थ–धर्म की साधना का प्रथम चरण है। उनके त्याग को गृहस्थ–आचार के प्राथमिक नियम या मूल गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। वसुनन्दि–श्रावकचार में सप्त दुर्व्यसनों के त्याग का विधान किया है। आज भी दुर्व्यसन – त्याग, गृहस्थ–धर्म का प्राथमिक एवं अनिवार्य चरण माना जाता है। सप्त दुर्व्यसन निम्न हैं –

1. द्यूत–क्रीड़ा (जुआ)
3. मद्यपान
2. मांसाहार
5. परस्त्रीगमन
4. वेश्यागमन
7. चौर्य–कर्म
6. शिकार और

उपर्युक्त सप्त दुर्व्यसनों के सेवन से व्यक्ति का कितना चारित्रिक पतन होता है, इसे हर कोई जानता है।

1. द्यूत–क्रीड़ा :– वर्तमान युग में सट्टा, लाटरी आदि द्यूत–क्रीड़ा के विविध रूप प्रचलित हो गये हैं। इनके कारण अनेक परिवारों का जीवन संकट में पड़ जाता है अतः इस दुर्व्यसन के त्याग को कौन अप्रासंगिक कह सकता है। द्यूत–क्रीड़ा के त्याग की प्रासंगिकता के सम्बन्ध में कोई भी विवेकशील मनुष्य दो मत नहीं हो सकता। वस्तुतः वर्तमान युग में द्यूत–क्रीड़ा के जो विविध रूप हमारे सामने उभर कर आये हैं, उनका आधार केवल मनोरंजन नहीं हैं, अपितु उनके पीछे बिना किसी श्रम के आर्थोपार्जन की

दुष्प्रवृत्ति है। सट्टे के व्यवसाय का प्रवेश जैन परिवारों में सर्वाधिक हुआ है। व्यक्ति इस प्रकार के धन्धे में अपने को नियोजित कर लेता है, तो श्रमपूर्वक अर्थोपार्जन के प्रति उसकी निष्ठा समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में चोरी, ठगी आदि दूसरी बुराइयाँ पनपती है। आज इसके प्रकट–अप्रकट विविध रूप हमारे समक्ष आ रहे है। उनसे सतर्क रहना आवश्यक है, अन्यथा हमारी भावी पीढ़ी में श्रमपूर्वक अर्थोपार्जन की निष्ठा समाप्त हो जावेगी। यद्यपि इस दुर्गुण का प्रारम्भ एक मनोरंजन के साधन के रूप में होता है, किन्तु आगे चलकर यह भयंकर परिणाम उपस्थित करता है। जैन समाज के सम्पन्न परिवारों में और विवाह आदि के प्रसंगों पर इसका जो प्रचलन बढ़ता जा रहा है, उसके प्रति हमें एक सजग दृष्टि रखनी होगी, अन्यथा इसके दुष्परिणामों को भुगतना होगा। आज का युवावर्ग जो इन प्रवृत्तियों में अधिक रस लेता हैं, इसके दुष्परिणामों को जानते हुए भी अपनी भावी पीढ़ी को इससे रोक पाने में असफल रहेगा।

2. मांसाहार :– विश्व में यदि शाकाहार का पूर्ण समर्थक कोई धर्म है, तो वह मात्र जैन धर्म है। जैनधर्म में गृहस्थोपासक के लिए मांसाहार सर्वथा त्याज्य माना गया है। किन्तु आज समाज में मांसाहार के प्रति एक ललक बढ़ती जा रही है और जैन परिवारों में उसका प्रवेश हो गया है। अतः इसकी प्रासंगिकता पर चर्चा करना अति आवश्यक है।

मांसाहार के निषेध के पीछे मात्र हिंसा और अहिंसा का प्रश्न ही नहीं, अपितु अन्य दूसरे भी कारण हैं। यह सत्य हैं कि मांस का उत्पादन बिना हिंसा के सम्भव नहीं है और हिंसा क्रूरता के बिना सम्भव नहीं है। यह सही है कि मानवीय आहार के अन्य साधनों में भी किसी सीमा तक हिंसा जुड़ी हुई है, किन्तु मांसाहार के निमित्त जो हिंसा या वध किया जाता है, उसके लिए वध–कर्ता का अधिक क्रूर होना अनिवार्य है। क्रूरता के कारण दया, करूणा एवं आत्मीयता जैसे कोमल गुणों का ह्रास होता है और समाज में भय, आतंक एवं हिंसा का ताण्डव प्रारम्भ हो जाता है। यह अनुभूत सत्य है कि वे सभी देश एवं कौमें, जो मांसाहारी हैं और हिंसा जिनके धर्म का अंग मान ली गई है, उनमें होने वाले हिंसक ताण्डव को देखकर आज भी दिल दहल उठता है। मुस्लिम राष्ट्रों में आज मनुष्य के जीवन का मूल्य गाजर और मूली से अधिक नहीं रह गया है। केवल व्यक्तिगत हितों के लिए ही धर्म और राजनीति के नाम पर वहाँ जो कुछ हो रहा है, वह हम सभी जानते हैं। यदि हम यह मानते हैं कि मानव–जीवन से क्रूरता समाप्त हो और कोमल गुणों का विकास हो, तो हमें उन कारणों को भी दूर करना होगा, जिनसे जीवन में क्रूरता आती हैं। मांसाहार और क्रूरता पर्यायवाची हैं – यदि दया, करूणा,

बात्सल्य का विकास करना है, तो मांसाहार का त्याग अपेक्षित है।

दूसरे, मांसाहार की निरर्थकता को मानव–शरीर की संरचना के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता हैं। मानव–शरीर की संरचना उसे निरामिष प्राणी ही सिद्ध करती ह। मांसाहार मानव के लिए कितना हानिकारक है, यह बात अनेक वैज्ञानिक अनुसंधानों से प्रमाणित हो चुकी है। इस लघु निबन्ध में उस सबकी चर्चा कर पाना तो सम्भव नहीं है, किन्तु यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मांसाहार शारीरिक स्वास्थ के लिए हानिकारक है और मनुष्य स्वभावतः एक शाकाहारी प्राणी है।

मांसाहार के समर्थन में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि बढ़ती हुई मानव–जाति की आबादी को देखते हुए भविष्य में मांसाहार के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रहेगा, जिससे मानव जाति की क्षुधा को शान्त किया जा सके। किन्तु उसके विपरीत कृषि के क्षेत्र में भी ऐसे अनेक वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं जो स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य को अभी शताब्दियों तक निरामिष भोजी बनाकर जिलाया जा सकता है। अनेक आर्थिक सर्वेक्षणों में यह भी प्रमाणित हो चुका है कि शाकाहार मांसाहार की अपेक्षा अधिक सुलभ और सस्ता है। अतः मनुष्य की स्वाद -लोलुप्ता के अतिरिक्त और कोई तर्क ऐसा नही है, जो मांसाहार का समर्थक हो सके। शक्तिदायक आहार के रूप में मांसाहार का सर्मथन एक खोखला दावा है। यह सिद्ध हो चुका हैं कि मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारी अधिक शक्ति सम्पन्न होते हैं, और उनमें अधिक काम करने की क्षमता होती है। शेर आदि मांसाहारी प्राणी शाकाहारी प्राणियों पर जो विजय प्राप्त कर लेते हैं, उसका कारण उनकी शक्तिनही बल्कि उनके नख, दांत आदि क्रूर शारीरिक अंग ही हैं।

जैन समाज के लिए आज यह विचारणीय प्रश्न है कि वह समाज में बढ़ती जा रही सामिष भोजन के लिए जो ललक हैं, उसे कैसे रोकें ? आज आवश्यकता इस बात की है कि हमें मांसाहार और शाकाहार के गुण–दोषों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक विवरण से युक्त ऐसा साहित्य प्रकाशित करना होगा, जो आज के युवक को तर्क–संगत रूप से यह अहसास करवा सके कि मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार एक उपयुक्त भोजन ह। दूसरे समाज में जो मांसाहार के प्रति ललक बढ़ती जा रही है, उसका कारण समाज नियंत्रण का अभाव तथा मांसाहारी समाज से बढ़ता हुआ घनिष्ठ परिचय है, जिस पर किसी सीमा तक अंकुश लगाना आवश्यक है।

3. मद्यपान :– तीसरा दुर्व्यसन मद्यपान माना गया है और गृहस्थोपासक को इसके

त्याग का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। बुद्ध ने तो इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए अपने पंचशीलों में अपरिग्रह के स्थान पर मद्यपान–निषेध को स्थान दिया था। यह एक ऐसी बुराई है, जो मानव समाज के गरीब और अमीर दोनों ही वर्गो में हावी है। जैन परम्परा में मद्यपान का निषेध न केवल इसलिए किया गया है कि वह हिंसा से उत्पादित है, अपितु इसलिए कि इससे मानवीय विवेक कुण्ठित होता है और जब मानवीय विवेक ही कुण्ठित हो जाएगा तो दूसरी सारी बुराइयाँ व्यक्ति के जीवन में स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जावेंगी। आर्थिक और चारित्रिक सभी दुराचरणों के मूल में नशीले पदार्थों का सेवन ह। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्यों के सेवन से मनुष्य अपनी मानसिक चिन्ताओं को भूल कर अपने तनावों को कम करता है, किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही हे। तनाव के कारण जीवित रखकर केवल क्षण भर के लिए अषने विवेक को खोकर विस्मृति के क्षणों में जाना, तनावों के निराकरण एवं परिमार्जन का सार्थक उपाय नहीं है। मद्यपान को भी सभी दुर्गुणों का द्वार कहा गया है। वस्तुतः उसकी समस्त बुराइयों पर विचार करने के लिए एक स्वतंत्र निबन्ध आवश्यक होगा। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि सारी बुराईयाँ विवेक के कुण्ठित होने पर पनपती हैं और मद्यपान विवेक को कुण्ठित करता है। अतः मनुष्य के मानवीय गुणों को जीवित रखने के लिए इसका त्याग आवश्यक है।

मनुष्य और पशु के बीच यदि कोई विभाजक रेखा है तो वह विवेक ही है और जब विवेक ही समाप्त हो जायेगा तो मनुष्य और पशु में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। मादक द्रव्यों का सेवन मनुष्य को मानवीय स्तर से गिराकर उसे पाशविक स्तर पर पहुँचा देता है।

यह भी सुविदित तथ्य है कि जब यह दुर्व्यसन गले लग जाता है तो अपनी अति पर पहुँचाए बिना समाप्त नहीं होता। वह न केवल विवेक को ही समाप्त करता है अपितु आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से व्यक्तिको जर्जर बना देता है। आज जैन समाज के सम्पन्न परिवारों में यह दुर्व्यसन भी प्रवेश कर चुका है। मैं ऐसे अनेक परिवारों को जानता हूँ जो धर्म के क्षेत्र में अग्रणी श्रावक माने जाते हैं किन्तु इस दुर्व्यसन से मुक्त नहीं हैं। आज हमें इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होगा कि समाज को इससे किस प्रकार बचाया जाए। जैन समाज ने जो चारित्रिक गरिमा, आर्थिक सम्पन्नता तथा समाज में प्रतिष्ठा अर्जित की थी उसका मूलभूत आधार इन दुर्व्यसनों से मुक्त रहना ही था। इन दुर्व्यसनों के प्रवेश के साथ हमारी चारित्रिक उच्चता और सामाजिक प्रतिष्ठा धीरे–

धीरे समाप्त होती जा रही हैं और अब एक दिन ऐसा भी आएगा जब हम अपनी आर्थिक सम्पन्नता से हाथ धो बैठेंगे। यदि हम सजग नहीं हुए तो भविष्य हमें क्षमा नहीं करेगा।

4. वेश्यागमन :– श्रावक के सप्त दुर्व्यसन त्याग के अन्तर्गत वेश्यागमन के त्याग का भी विधान किया गया है। यह सुनिश्चित सत्य है कि वेश्यागमन न केवल समाजिक दृष्टि से अपितु आर्थिक एवं शारीरिक–स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अवांछनीय माना गया है। उसके अनौचित्य पर यहाँ कोई विशेष चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नही होता। सामाजिक सदाचार और पारिवारिक सुख–शान्ति के लिए वेश्यागमन की प्रवृत्ति धीरे–धीरे क्षीण होती जा रही है। यद्यपि इस प्रवृत्ति के जो दूसरे रूप सामने आ रहे है, वे उसकी अपेक्षा अधिक चिन्तनीय हैं, यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि चाहे खुले रूप में वेश्यावृत्ति पर अंकुश लगा हो, किन्तु छद्म–रूप में यह प्रवृत्ति बढ़ी ही है। जैन समाज के सम्पन्न वर्ग में इन छद्म रूपों के प्रति ललक बढ़ती जा रही है, जिस पर अंकुश लगाना आवश्यक है।

5. परस्त्रीगम्न :– परस्त्रीगमन परिवार एवं समाज व्यवस्था का घातक है। इसके परिणाम स्वरूप न केवल एक ही परिवार का पारिवारिक जीवन दूषित एवं अशांत बनता है, अपितु अनेक परिवारों के जीवन अशान्त बन जाते हैं। वेश्यावृत्ति की अपेक्षा यह अधिक दोष–पूर्ण हैं। क्योंकि इसमें छल–छद्म और जीवन का दोहरापन भी जुड़ जाता हैं। अतः सामाजिक दृष्टि से यह बहुत बड़ा अपराध है। आज कामवासना की तृप्ति का यह छद्म रूप अधिक फैलता जा रहा है। पाश्चात्य देशों की वासनात्मक उच्छृंखला का प्रभाव हमारे देश में भी हुआ है। क्लबों और होटलों के माध्यम से यह विकृति अधिक तेजी से व्याप्त होती जा रही है। जैन समाज का भी कुछ सम्पन्न एवं धनी वर्ग इसकी गिरफ्त में आने लगा है। यद्यपि अभी समाज का बहुत बड़ा भाग इस दुर्गुण से मुक्त है किन्तु धीरे–धीरे फैल रही इस विकृति के प्रति सजग होना आवश्यक है।

6. शिकार :– मनोरंजन के निमित्त अथवा मांसाहार के लिए जंगल के प्राणियों का वध करना शिकार कहा जाता है। यह व्यक्ति को क्रूर बनाता है। यदि मनुष्य को मानवीय कोमल गुणों से युक्त बनाये रखना है तो इस वृत्ति का त्याग अपेक्षित है। आज शासन द्वारा भी वन्य प्राणियों के संरक्षण के लिए शिकार की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जा रहा है अतः इस प्रवृत्ति के त्याग का औचित्य निर्विवाद है। आज हम इस बात को गौरव से कह सकते हैं कि जैन समाज इस दुर्गुण से मुक्त है, किन्तु आज सौन्दर्य–प्रसाधनों – जिनका उपभोग समाज में धीरे–धीरे बढ़ता जा रहा है, इस निमित्त अव्यक्त रूप से हो रही

हिंसा के प्रति सजग रहना आवश्यक है। क्योंकि उनका उत्पादन उपभोक्ताओं के निमित्त ही होता है और यदि हम उसका उपभोग करते हैं तो उस हिंसा एवं क्रूरता से अपने को बचा नहीं सकते हैं। सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण एवं परीक्षण के निमित्त हिंसा के जो क्रूरतम रूप अपनाए जाते हैं वे जैन पत्र–पत्रिकाओं में बहुचर्चित रहे हैं अतः उन सब पर यहाँ विचार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। किन्तु इस सन्दर्भ में हमें सजग अवश्य रहना चाहिए कि हम इस क्रूरता के भागी न बनें।

6. चोरी :– दूसरों की सम्पत्ति या दूसरों के अधिकार की वस्तुओं को उनकी बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह और संचय को भी चोरी कहा जा सकता है। जैनाचार्यों ने व्यावसायिक अप्रमाणिकता, कर–अपवंचन तथा राष्ट्रीय हितों के विरूद्ध कार्य करना आदि को भी चोरी के अन्तर्गत माना हैं। यद्यपि सामान्यतया जैन परिवार इस दुर्व्यसन से मुक्त कहे जा सकते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने इसकी जो सूक्ष्म व्याख्या की है, उस आधार पर आज का गृहस्थ वर्ग इस दुर्व्यसन से कितना मुक्त है, यह कहना कठिन है। व्यावसायिक अप्रमाणिकता के इस युग में इसकी प्रासंगिकता को नकारा तो नहीं जा सकता किन्तु वर्तमान युग में कौन इससे कितना बच सकेगा इस पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है।

गृहस्थ जीवन की व्यावहारिक नीति

गृहस्थ–जीवन में कैसे जीना चाहिए, इस सम्बन्ध में थोड़ा निर्देश आवश्यक है। गृहस्थ उपासक का व्यावहारिक जीवन कैसा हो इस सम्बन्ध में जैन आगमों में यत्र–तत्र बिखरे हुए कुछ निर्देश मिल जाते हैं। लेकिन बाद में जैन विचारकों ने कथा–साहित्य, उपदेश–साहित्य, एवं आचार सम्बन्धी साहित्य में इस सन्दर्भ में एक निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत की हैं। यह एक स्वतंत्र शोध विषय हैं। हम अपने विवेचन को आचार्य नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार, आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र तथा पंडित आशाधरजी के सागारधर्मामृत तक ही सीमित रखेंगे।

सभी विचारकों की यही मान्यता है कि जो व्यक्तिजीवन के सामान्य व्यवहारों में कुशल नहीं हैं, वह आध्यात्मिक जीवन की साधना में आगे नहीं बढ़ सकता। धर्मिक या आध्यात्मिक होने के लिए व्यावहारिक या सामाजिक होना पहली शर्त है। व्यवहार से ही परमार्थ साधा जा सकता है। धर्म की प्रतिष्ठा के पहले जीवन में व्यवहारपटुता एवं सामाजिक जीवन जीने की कला का आना आवश्यक है। जैनाचार्यों ने इस तथ्य को बहुत पहले ही

समझ लिया था। अतः अणव्रत–साधना के पूर्व ही इन योग्यताओं का सम्पादन आवश्यक है।

आचार्य हेमचनद्र ने इन्हें ''मार्गानुसारी'' गुण कहा हैं। धर्म–मार्ग का अनुसरण करने के लिए इन गुणों का होना आवश्यक है। उन्होंने योगशास्त्र के द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश में श्रावक–धर्म का विवेचन किया हैं – (1). न्याय एवं नीति पूर्वक धनोपार्जन करना। (2). समाज में जो ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध शिष्ट – जन हैं, उनका यथोचित सम्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना। (3). समान कुल और आचार–विचार वाले, स्वधर्मी किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न जनों की कन्या के साथ विवाह करना। (4). चोरी, परस्त्रीगमन, असत्य भाषण आदि पाप कर्मों का ऐहिक–पारलौकिक कटुक विपाक जानकर, पापाचार का त्याग करना। (5). अपने देश के कल्याणकारी आचार–विचार एवं संस्कृति का पालन करना तथा संरक्षण करना। (6). दूसरों की निन्दा न करना। (7). ऐसे मकान में निवास करना जो न खुला और न अधिक गुप्त हो, जो सुरक्षा वाला भी हो और जिसमें अव्याहत वायु एवं प्रकाश आ सके। (8). सदाचारी जनों की संगति करना। (9). माता–पिता का सम्मान करना, उन्हें सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना। (10). जहाँ वातावरण शान्तिप्रद न हो, जहाँ निराकुलता के साथ जीवन–यापन करना कठिन हो, ऐसे ग्राम या नगर में निवास न करना। (11). देश, जाति एवं कुल के विरूद्ध कार्य न करना, जैसे मदिरापान आदि नहीं करना। (12). देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना। (13). आय से अधिक व्यय न करना और अयोग्य क्षेत्र में व्यय न करना, आय के अनुसार वस्त्र पहनना। (14). धर्म–श्रवण की इच्छा रखना, अवसर मिलने पर श्रवण करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, विरूद्ध अर्थ से बचना, वस्तुस्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करना और तत्त्वज्ञ बनना आदि बुद्धि के आठ गुणों को प्राप्त करना। (15). धर्मश्रवण करके जीवन को उत्तरोत्तर उच्च और पवित्र बनाना। (16). अजीर्ण होने पर भोजन न करना, यह स्वास्थ–रक्षा का मूल मंत्र हैं। (17). समय पर प्रमाणोपोत भोजन करना, स्वाद के वशीभूत हो अधिक न खाना। (18). धर्म, अर्थ और काम पुरूषार्थ का इस प्रकार सेवन करना कि जिससे किसी में बाधा उत्पन्न न हो। धनोपार्जन के बिना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता और गृहस्थ काम पुरूषार्थ का भी सर्वथा त्यागी नही हो सकता, तथापि धर्म को बाधा पहुँचा कर अर्थ–काम का सेवन नहीं करना चाहिए। (19). अतिथि, साधु और दीन जनों को यथा योग्य दान देना। (20). आग्रहशील न होना। (21). सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील

होना। (22). अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन न करना। (23). देश, काल, वातावरण और स्वकीय सामर्थ्य का विचार करके ही कोई कार्य प्रारम्भ करना। (24). आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरूषों को अपने घर आमन्त्रित करना, आदरपूर्वक बिठलाना, सम्मानित करना और उनकी यथोचित सेवा करना। (25). माता–पिता, पत्नी, पुत्र–पुत्री आदि आश्रितों का यथायोग्य भरण–पोषण करना, उनके विकास में सहायक बनना। (26). दीर्घदर्शी होना, किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसके गुणावगुण पर विचार कर लेना। (27). विवेक शील होना। जिसमें हित–अहित, कृत्य–अकृत्य का विवेक नहीं होता, उस पशु के समान पुरूष को अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है। (28). कृतज्ञ होना। उपकारी के उपकार को विस्मरण कर देना उचित नहीं। (29). अहंकार से बचकर विनम्र होना। (30). लज्जाशील होना। (31). करूणाशील होना। (32). सौम्य होना। (33). यथाशक्ति परोपकार करना। (34). काम, क्रोध, मोह, मद, और मात्सर्य, इन आन्तरिक रिपुओं से बचने का प्रयत्न करना और (35). इन्द्रियों को उच्छृंखल न होने देना। इन्द्रियविजेता गृहस्थ ही धर्म की आराधना करने की पात्रता प्राप्त करता है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार में भिन्न रूप से श्रावक के 21 गुणों का उल्लेख किया हैं और यह माना हैं कि इन 21गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही अणुव्रतों की साधना का पात्र होता हैं। आचार्य द्वारा निर्देशित श्रावक के 21गुण निम्न हैं:– (1). अक्षुद्रपन (विशाल हृदयता), (2). स्वस्थता, (3). सौम्यता, (4). लोकप्रियता, (5). अक्रूरता, (6). पापभीरूता, (7). अशठता, (8). सुदक्षता (दानशील), (9). लज्जाशीलता, (10). दयालुता, (11). गुणानुराग, (12). प्रियसम्भाषण एवं सुपक्षयुक्त, (16). नम्रता, (17). विशेषज्ञता, (18). वृद्धानुगामी, (19). कृतज्ञ, (20). परहितकारी (परोपकारी) और (21). लब्धलक्ष्य (जीवन के साध्य का ज्ञाता)।

पंड़ित आशधरजी ने अपने ग्रंथ सागार–धर्मामृत में निम्न 17 गुणों का निर्देश किया हैं – (1). न्यायपूर्वक धन का अर्जन करने वाला, (2). गुणीजनों को मानने वाला, (3). सत्यभाषी, (4). धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का परस्पर विरोधरहित सेवन करने वाला, (5). योग्य स्त्री, (6). योग्य स्थान (मुहल्ला), (7). योग्य मकान, (8). लज्जाशील, (9). योग्य आहार, (10). योग्य आचरण, (11). श्रेष्ठ पुरूषों की संगति, (12). बुद्धिमान्, (13). कृतज्ञ, (14). जितेन्द्रिय, (15). धर्मोपदेश श्रवण

करने वाला, (16). दयालु और (17). पापों से डरने वाला – ऐसा व्यक्ति सागारधर्म (ग्रहस्थ धर्म) का आचरण करें। पंड़ित आशाधरजी ने जिन गुणों का निर्देश दिया हैं उनमें से अधिकांश का निर्देश दोनों पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा किया जा चुका हैं।

उपर्युक्त विवेचन से जो बात अधिक स्पष्ट होती हैं, वह यह हैं कि जैन आचार–दर्शन मनुष्य जीवन के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करके नही चलता। जैनाचार्यों ने जीवन के व्यवहारिक पक्ष को गहराई से परखा हैं और इतना सुसंस्कृत बनाने का प्रयास किया हैं कि जिसके द्वारा व्यक्ति इस जगत में भी सफल सफल जीवन जी सकता हैं। यहीं नहीं, इन सद्गुणों में से अधिकांश का संबंध हमारे सामाजिक जीवन से हैं। वैयक्तिक जीवन में इनका विकास सामाजिक जीवन के मधुर संबंधों का सृजन करता हैं। ये वैयक्तिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। जैनाचार्यों के अनुसार ये आध्यात्मिक साधना के प्रवेशद्वार हैं। साधक इनका योग्य रीति से आचरण करने के बाद ही अणुव्रतों और महाव्रतों की साधना की दिशा में आगे बढ़ सकता हैं।

श्रावक के बाहर व्रतों की प्रासंगिकता

जैनधर्म के श्रावक के निम्न बारह व्रत हैं –

(1). अहिंसा व्रत
(2). सत्य व्रत
(3). अचौर्य व्रत
(4). स्व पत्नी संतोष व्रत
(5). परिग्रह–परिमाण व्रत
(6). दिक्–परिमाण व्रत
(7). उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत
(8). अनर्थदण्ड विरमण व
(9). सामायिक व्रत
(10). देशावकासिक व्रत
(11). प्रोषधोपवास व्रत
(12). अतिथि संविभाग व्रत

(1). अहिंसा अणुव्रत :– गृहस्थोपासक संकल्पपूर्वक त्रसप्राणियों (चलने–फिरने वाले

प्राणियों) की हिंसा का त्याग करता है। हिंसा के चार रूप हैं –1. आक्रामक (संकल्पी), 2. सुरक्षात्मक (विरोधजा), 3. औद्योगिक (उद्योगजा), 4. जीवन–यापन के अन्य कार्यों में हाने वाली (आरम्भजा)। हिंसा के ये चारों रूप भी दो वर्गों में विभाजित किये गये हैं – 1. हिंसा की जाती है और 2. हिंसा करनी पड़ती है। इससे आक्रामक हिंसा की जाती हैं, जबकि सुरक्षात्मक, औद्योगिक और आरम्भजा हिंसा करनी पड़ती है। सुरक्षात्मक, औद्योगिक और आरम्भजा हिंसा में हिंसा का निर्णय तो होता है, किन्तु वह निर्णय विवशता में लेना होता है, अतः उसे स्वतंत्र ऐच्छिक निर्णय नहीं कह सकते हैं। इन स्थितियों में हिंसा की नही जाती, अपितु करनी पड़ती है। सुरक्षात्मक हिंसा केवल सुरक्षात्मक दृष्टि से ही करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त हिंसा का एक रूप वह है जिसमें हिंसा हो जाती है, जैसे– कृषिकार्य करते हुए सावधानी के बावजूद हो जाने वाली त्रस–हिंसा। जीवनरक्षण एवं आजीविकोपार्जन में होने वाली हिंसा से उसका व्रत दूषित नहीं माना गया है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि जैनधर्म में अहिंसा का पालन जिस सूक्ष्मता के साथ किया जाता है, वह उसे अव्यावहारिक बना देता है किन्तु यदि हम गृहस्थ उपासक के अहिंसा अणुव्रत के उपर्युक्त विवेचन को देखते हैं तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अहिंसा की जैन अवधारणा किसी भी स्थिति में अप्रासंगिक और अव्यावहारिक नहीं हैं। वह न तो व्यक्ति या राष्ट्र के आत्म–सुरक्षा के प्रयत्न में बाधक है और न उसकी औद्योगिक प्रगति में। उसका विरोध है तो मात्र आक्रामक हिंसा से और आज कोई भी विवेकशील प्राणी या राष्ट्र आक्रामक हिंसा का सर्मथक नहीं हो सकता है।

गृहस्थ उपासक के अहिंसाणुव्रत के जो पांच अतिचार (दोष) बताये गये हैं वे भी पूर्णतया व्यावहारिक और प्रासंगिक हैं। इन अतिचारों की प्रासंगिक व्याख्या निम्न हैं –

1. बन्धन :– प्राणियों को बंधन में डालना। आधुनिक सन्दर्भ में अधीनस्थ कर्मचारियों को निश्चित समयावधि से अधिक रोककर कार्य लेना अथवा किसी की स्वतंत्रता का अपहरण करना भी इसी कोटि में आता हैं।

2. वध :– अंगोपांग का छेदन और घातक प्रहार करना।

3. वृत्तिच्छेद :– किसी की आजीविका को छीनना या उसमें बाधा डालना।

4. अतिभार :– प्राणी की सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना या कार्य लेना।

5. भक्त - पान निरोध :– अधीनस्थ पशुओं एवं कर्मचारियों की समय पर एवं आवश्यक भोजन–पानी की व्यवस्था न करना। उपर्युक्त अनैतिक आचरणों की प्रासंगिकता आज भी यथावत है। शासन ने शनैः शनैः इनकी प्रासंगिकता के आधार पर इन्हें रोकने हेतु कुछ

नियम बनाये हैं जबकि जैनाचार्यों ने दो हजार वर्ष पूर्व ही इन नियमों की व्यवस्था कर दी थी।

2. सत्याणुव्रत :– गृहस्थ को निम्न पाँच कारणों से असत्य–भाषण का निषेध किया गया हैं –

1. वर–कन्या के सम्बन्ध में असत्य जानकारी देना।
2. पशु आदि के क्रय–विक्रय हेतु असत्य जानकारी देना।
3. भूमि आदि के स्वामित्व के सम्बन्ध में असत्य जानकारी देना।
4. किसी की धरोहर दबाने या अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को सिद्ध करने हेतु असत्य बोलना।
5. झूठी साक्षी देना।

इस अणुव्रत के पाँच अतिचार या दोष निम्न हैं –

1. अविचारपूर्वक बोलना या मिथ्या दोषारोपण करना।
2. गोपनीयता भंग करना।
3. स्वपत्नी या मित्र के गुप्त रहस्यों को प्रकट करना।
4. मिथ्या–उपदेश अर्थात् लोगों को बहकाना।
5. कूट लेखकरण अर्थात् झूठे दस्तावेज तैयार करना, नकली मुद्रा (मोहर) लगाना या जाली हस्ताक्षर करना।

उपर्युक्त सभी निषेधों की प्रासंगिकता आज भी निर्विवाद है। वर्तमान युग में भी ये सभी दूषित प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं तथा शासन और समाज इन पर रोक लगाना चाहता है।

3. अस्तेयाणुव्रत :– वस्तु के स्वामी की अनुमति के बिना किसी वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। गृहस्थ साधक को इस दूषित प्रवृत्ति से बचने का निर्देश दिया गया है। इसकी विस्तृत चर्चा हम सप्त दुर्व्यसन के संदर्भ में कर चुके हैं, अतः यहाँ केवल इसके निम्न अतिचारों की प्रासंगिकता की चर्चा करेंगे –

1. चोरी की वस्तु खरीदना।
2. चौर्यकर्म में सहयोग देना।
3. शासकीय नियमों का अतिक्रमण तथा कर अपवंचन करना।
4. माप–तौल में अप्रमाणिकता रखना।
5. वस्तुओं में मिलावट करना।

उपर्युक्त पाँचों दुष्प्रवृत्तियाँ आज भी अनुचित एवं शासन द्वारा दण्डनीय मानी जाती हैं अतः इनका निषेध अप्रासंगिक या अव्यावहारिक नहीं हैं। वर्तमान युग में ये

दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं, अतः इन नियमों का पालन अपेक्षित है।

4. स्वपत्नी संतोषव्रत :– गृहस्थोपासक की काम–प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने हेतु इस व्रत का विधान किया गया हैं। यह यौन सम्बन्धों को नियन्त्रित एवं परिष्कारित करता है, और इस संदर्भ में सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करता है। स्वपत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र यौन सम्बन्ध रखना जैन श्रावक के लिये निषिद्ध है। पारिवारिक एवं सामाजिक शान्ति एवं सुव्यवस्थ की दृष्टि से इस व्रत की उपयोगिता निर्विवाद है। यह व्रत पति–पत्नी के मध्य एक–दूसरे के प्रति आस्था जागृत करता है और उनके पारस्परिक प्रेम एवं समर्पण भाव को सुदृढ़ करता है। जब भी इस व्रत का भंग होता है, पारिवारिक जीवन में अशांति एवं दरार पैदा हो जाती है। इस व्रत के निम्न पाँच या चार अतिचार या दोष माने गये हैं –

1. अल्पवय की विवाहित स्त्री से अथवा समय विशेष के लिए ग्रहण की गई स्त्री से अर्थात् वेश्या आदि से संभोग करना।
2. अविवाहित स्त्री – जिसमें परस्त्री और वेश्या भी समाहित हैं, से यौन सम्बन्ध स्थपित करना।
3. अप्राकृतिक साधनों से काम-वासना को सन्तुष्ट करना, जैसे-हस्त मैथुन, गुदा मैथुन, समलिंगी मैथुन आदि।
4. परविवाहकरण अर्थात स्व-सन्तान के अतिरिक्त दूसरों के विवाह सम्बन्ध करवाना। वर्तमान संदर्भ में इसकी एक व्याख्या यह भी हो सकती हैं कि एक पत्नी के होते हुए दूसरा विवाह करना।
5. काम-भोग की तीव्र अभिलाषा करना।

उपर्युक्त पांच निषेधों में कोई भी ऐसा नहीं हैं, जिसे अव्यावहारिक और वर्तमान संदर्भो में अप्रासंगिक कहा जा सके।

5. परिग्रह परिमाण व्रतः– इस व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ उपासक से यह अपेक्षा की गई है कि वह अपनी सम्पत्ति अर्थात जमीन–जायदाद, बहुमूल्य धातुएँ, धन–धान्य, पशु एवं अन्य वस्तुओं की एक सीमा रेखा निश्चित करे और उसका अतिक्रमण नहीं करें। व्यक्ति में संग्रह की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और किसी सीमा तक गृहस्थ–जीवन में संग्रह आवश्यक भी हैं, किन्तु यदि संग्रह–वृत्ति को नियन्त्रित नहीं किया जावेगा तो समाज में गरीब और अमीर की खाई और गहरी होगी और वर्ग संघर्ष अपरिहार्य हो जावेगा। परिग्रह परिमाणव्रत या इच्छा परिमाणव्रत इसी संग्रह वृत्ति को नियंत्रित करता है और आर्थिक वैषम्य का समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कोई सीमा रेखा नियत नहीं

की गई हैं, उसे व्यक्ति के स्वविवेक पर छोड़ दिया गया था, किन्तु आधुनिक संदर्भ में हमें व्यक्ति की आवश्यकता और राष्ट्र की सम्पन्नता के आधार पर सम्पत्ति या परिग्रह की कोई अधिकतम सीमा निर्धारित करनी होगी, यही एक ऐसा उपाय है जिससे गरीब और अमीर के बीच की खाइ को पाटा जा सकता है। यह भय निरर्थक है कि अनासक्तिऔर अपरिग्रह के आदर्श से आर्थिक प्रगति प्रभावित होगी। जैन धर्म अर्जन का उसी स्थिति में विरोधी है, जबकि उसके साथ हिंसा और शोषण की बुराइयाँ जुड़ती हैं। हमारा आदर्श है – सौ हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बाँट दो। गृहस्थ अर्थोपार्जन करे, किन्तु वह न तो संग्रह के लिए हो और और न स्वयं के भोग के लिये, अपितु उसका उपयोग लोक-मंगल के लिये और दीन-दुःखियों की सेवा में हो ; वर्तमान सन्दर्भ में इस व्रत की उपयोगिता निर्विवाद है। यदि आज हम इसे स्वेच्छा से नही अपनाते हैं तो या तो शासन हमें इसके लिए बाध्य करेगा या फिर अभावग्रस्त वर्ग छीन लेगा, अतः हमें समय रहते सम्भल जाना चाहिये।

6. दिक् परिमाण व्रत :– तृष्णा असीम है, धन के लोभ में मनुष्य कहाँ–कहाँ नहीं भटका हैं। राज्य की तृष्णा ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, तो धन–लोभ में व्यावसायिक उपनिवेश बने। अर्थ–लोलुपता तथा विषय–वासनाओं की पूर्ति के निमित्त आज भी व्यक्ति देश–विदेश में भटकता है। दिक् परिमाणव्रत मनुष्य की इसी भटकन को नियन्त्रित करता है। गृहस्थ उपासक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आर्थोपार्जन एवं विषय–भोग का क्षेत्र सीमित करे। इसीलिए उसे विविध दिशाओं में अपने आवागमन का क्षेत्र मार्यादित कर लेना होता है। यद्यपि वर्तमान संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इससे व्यक्ति का कार्यक्षेत्र सीमित हो जावेगा किन्तु जो व्यक्ति वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से अवगत है, वे भली प्रकार जानते हैं कि आज कोई भी राष्ट्र विदेशी व्यक्ति को अपने यहाँ पैर जमाने देना नही चाहता है, दूसरे यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय शोषण को समाप्त करना चाहते हैं तो हमें इस बात से सहमत होना होगा कि व्यक्ति के धनोपार्जन की गतिविधि का क्षेत्र सीमित हो। अतः इस व्रत को अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता है।

7. उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत :- व्यक्ति की भोगावृत्ति पर अंकुश लगाना ही इस व्रत का मूल उद्देश्य है। इस व्रत के अन्तर्गत श्रावक को अपने दैनिक जीवन के उपभोग की प्रत्येक वस्तु की संख्या, मात्रा आदि निर्धारित करनी होती है, जैसे– वह कौन सा मंजन करेगा, किस प्रकार के चावल, दाल, सब्जी, फल-मिष्ठान्न आदि का उपभोग करेगा, उनकी मात्रा क्या होगी, उसके वस्त्र, जूते, शय्या आदि किस प्रकार के और कितने होंगे ? वस्तुतः इस व्रत के माध्यम से उसकी भोग-वृत्ति को संयमित कर उसके जीवन को सात्विक

और सादा बनाने का प्रयास किया गया है, जिसकी उपयोगिता को कोई भी विचारशील व्यक्ति अस्वीकार नही करेगा। आज जब मनुष्य उद्दाम भोग-वासना में आकण्ठ डूबता जा रहा हैं, इस व्रत का महत्व स्पष्ट है।

जैन आचार्यों ने उपभोग-परिमाणव्रत के माध्यम से यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया हैं कि गृहस्थ उपासक को किन साधनों के द्वारा अपनी आजीविका का उपार्जन करना चाहिए और किन साधनों से आजीविका का उपार्जन नहीं करना चाहिए। गृहस्थ उपासक के लिए निम्नलिखित पन्द्रह प्रकार के व्यवसायों से आजीविका अर्जित करना निषिद्ध माना गया है –

1. अङ्गारकर्म–जैन आचार्यों ने इसके अन्तर्गत व्यक्ति को अग्नि प्रज्ज्वलित करके किये जाने वाले सभी व्यवसायों को निषिद्ध बताया हैं, जैसे– कुम्भकार, स्वर्णकार, लौहकार आदि के व्यवसाय। किन्तु मेरी दृष्टि में इसका तात्पर्य जंगल में आग लगाकर कृषि योग्य भूमि तैयार करना है।
2. वनकर्म-जंगल कटवाने का व्यवसाय।
3. शकटकर्म-बैलगाड़ी, रथ आदि बनाकर बेचने का व्यवसाय।
4. भाटककर्म-बैल, अश्व आदि पशुओं को किराये पर चलने का व्यवसाय।
5. स्फोटिकर्म-खान खोदने का व्यवसाय।
6. दन्तवाणिज्यकर्म-हाथी-दाँत आदि हड्डी का व्यवसाय। उपलक्षण से चमडे तथा सींग आदि का व्यवसाय भी इसमें सम्मिलित हैं।
7. लाक्षा-वाणिज्यकर्म-लाख का व्यवसाय।
8. रस-वाणिज्यकर्म-मद्य, मांस, मधु आदि का व्यवसाय।
9. विष-वाणिज्यकर्म-विभिन्न प्रकार के विषों का व्यवसाय।
10. केश-वाणिज्यकर्म-बालों एवं रोमयुक्त चमड़े का व्यवसाय।
11. यन्त्रपीडनकर्म-यन्त्र, साँचे, कोल्हू आदि का व्यवसाय। उपलक्षण से अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार भी इसी में सम्मिलित हैं।
12. नीर्लाञ्छनकर्म-बैल अदि पशुओं को नपुसंक बनाने का व्यवसाय।
13. दवाग्निदापनकर्म-जंगल में आग लगाने का व्यवसाय।
14. सरह्रद-तडाग-शोषणकर्म–तालाब, झील और सरोवर आदि को सुखाना।
15. असती-जन पोषणताकर्म–व्यभिचार–वृत्ति के लिए वेश्या आदि को नियुक्त कर उनके द्वारा धनोपार्जन करवाना। उपलक्षण से दुष्कर्मों के द्वारा आजीविका का अर्जन करना

भी इसी में सम्मिलित है।

आधुनिक सन्दर्भ में उपर्युक्त निषिद्ध व्यवसायों की सूची में परिमार्जन की आवश्यकता प्रतीत होती है। आज व्यवसायों के ऐसे बहुत से रूप सामने आये हैं, जो अधिक अनैतिक और हिंसक हैं। अत: इस सन्दर्भ में पर्याप्त विचार-विमर्श करके निषिद्ध व्यवसायों की एक नवीन तालिका बनायी जानी चाहिए।

8. **अनर्थ-दण्ड-विरमण व्रत** :– मानव अपने जीवन में अनेक ऐसे पापकर्म करता है, जिनके द्वारा उसका अपना कोई हित साधन नहीं होता। इन निष्प्रयोजन किये जाने वाले पाप कर्मों से गृहस्थ उपासक को बचाना इस व्रत का मुख्य उद्देश्य है। निष्प्रयोजन हिंसा और असत्य-सम्भाषण की प्रवृत्तियाँ मनुष्य में सामान्य रूप से पायी जाती हैं। जैसे-स्नान में आवश्यकता से अधिक जलका अपव्यय करना, भोजन में जूठन डालना, सम्भाषण में अपशब्दों का प्रयोग करना, स्वास्थ्य के लिए हानिकर मादक द्रव्यों का सेवन करना, अश्लील और कामवर्द्धक साहित्य पढ़ना आदि। निरर्थक प्रवृत्तियाँ अविवेकी और अनुशासनहीन जीवन की द्योतक हैं। इस व्रत के अन्तर्गत गृहस्थ उपासक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अशुभचिन्तन, पापकर्मोपदेश, हिंसक उपकरणों के दान तथा प्रमादाचरण से बचे ।

इस व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार माने गये हैं -

1. कामवासना को उत्तेजित करने वाली चेष्टाएँ करना।
2. हाथ, मुहँ, आँख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना।
3. अधिक वाचाल होना या निरर्थक बातें करना।
4. अनावश्यक रूप से हिंसा के साधनों का संग्रह करना और उन्हें दूसरों को देना
5. आवश्यकता से अधिक उपभोग सामग्री का संचय करना।

यदि हम उपर्युक्त व्रत और उसके दोषों के सन्दर्भ में विचार करें तो वर्तमान युग में इसकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। मानव-समाज में आज भी ये सभी चारित्रिक विकृतियाँ विद्यमान हैं और एक सभ्य समाज के निर्माण के लिए इनका परिमार्जन आवश्यक है।

श्रावक के उपर्युक्त पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का बहुत कुछ सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन से है और हमने जब उनकी प्रासंगिता की कोई चर्चा की है तो वह सामाजिक दृष्टि से ही की है। गृहस्थ उपासक के शेष चार शिक्षाव्रतों में सामायिक, देशावकासिक, प्रौषधोपवास का सम्बन्ध विशिष्ट रूप से वैयक्तिक जीवन से है। यद्यपि अतिथि-संविभागव्रत की व्याख्या पुन: सामाजिक सन्दर्भ में की जा सकती है।

9. **सामायिक व्रत** :– सामायिक समभाव की साधना है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय में चित्तवृत्ति का समत्व ही सामायिक है। आज के युग में जब मनुष्य मानसिक विक्षोभ और तनावों की स्थिति में जी रहा है तब सामायिक व्रत की साधना की उपयोगिता सुस्पष्ट हो जाती है। वर्तमान में मात्र वेश परिवर्तन करके कुछ समय के लिए बाह्य हिंसक प्रवृत्तियों से दूर हो जाना सामायिक का बाह्य रूप तो हो सकता है, किन्तु वह उसकी अन्तरात्मा नहीं है। आज हमारी सामायिक की साधना में समभावरूपी अन्तरात्मा मृतप्राय होती जा रही है और वह एक रूढ़ क्रिया मात्र बन कर रह गयी है। सामायिक में मानसिक तनावों के निराकरण और चित्तवृत्ति को शान्त और निराकुल बनाने के लिए कोई उपयुक्त पद्धति विकसित की जाये, यह आज के युग की महती आवश्यकता है।

10. **देशावकासिक व्रत** :– इस व्रत का मुख्य उद्देश्य आंशिक रूप से गृहस्थ-जीवन से निवृति प्राप्त करना है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से परिवर्तन प्रिय है। घर-गृहस्थी के कोलाहपूर्ण और अशान्त जीवन से निवृत्ति लेकर एक शान्त जीवन का अभ्यास एवं आस्वाद करना ही इसका लक्ष्य है। वैसे भी हम सप्ताह में एक दिन अवकाश मनाते हैं। देशावकासिक व्रत इसी साप्ताहिक अवकाश का अध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में उपयोग है और इस दृष्टि से इसकी सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

11. **प्रौषधोपवास व्रत** :– यह व्रत भी मुख्य रूप से निवृत्तिपरक जीवन की साधना के निमित्त है। उपवासपूर्वक विषयवासनाओं पर नियन्त्रण रखना ही इस व्रत का मूल उद्देश्य है। इसे हम एक दिन के लिए ग्रहण किया हुआ श्रमण-जीवन भी कह सकते है। इसकी सार्थकता वैयक्तिक साधनात्मक जीवन की दृष्टि से ही आँकी जा सकती है।

12. **अतिथि-संविभाग व्रत** :– अतिथि-संविभाग व्रत गृहस्थ के सामाजिक दायित्व का सूचक है। अपने और अपने परिजनों के उदरपोषण के साथ-साथ गृहस्थ पर निवृत्त साधकों और समाज के असहाय एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों के भरण-पोषण का दायित्व भी है। प्रस्तुत व्रत का उद्देश्य गृहस्थ में सेवा और दान की वृत्ति को जागृत करना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। हमारा जीवन पारस्परिक सहयोग और सहभागिता के आधार पर ही चलता है। दूसरों के सुख-दुःख में सहभागी बनना और अभावग्रस्तों, पीड़ितों और दीन-दुःखियों की सेवा करना– यह गृहस्थ का अनिवार्य धर्म है। यद्यपि आज इस प्रवृत्ति को, भिक्षावृत्ति को प्रोत्साहन देने वाली मानकर अनुपयुक्त कहा जाता है, किन्तु जब तक समाज में अभावग्रस्त, पीड़ित और रोगी व्यक्ति हैं– सेवा और सहकार की आवश्यकता अपरिहार्य रूप से बनी रहेगी और यदि शासन इस दायित्व को नहीं सम्भालता है तो यह प्रत्येक गृहस्थ

का कर्तव्य है कि वह दान और सेवा के मूल्यों को जीवित बनाये रखे। यह प्रश्न मात्र दया या करुणा का नहीं है, अपितु दायित्व बोध का है।

श्रावक के दैनिक षट्कर्म

श्रावक जीवन के आवश्यक षट्कर्म इस प्रकार है -

1. **देवपूजा** - तीर्थंकरो का पूजन, उनके आदर्श स्वरूप का चिन्तन एवं गुणगान।
2. **गुरु-सेवा** - श्रावक का दूसरा कर्तव्य गुरु की सेवा एवं उनका विनय करना है। भक्तिपूर्वक गुरु का वन्दन करना, उनका सम्मान करना और उनके उपदेशों को श्रवण करना।
3. **स्वाध्याय** - आत्मस्वरूप का चिन्तन और मनन करना। इसके साथ ही सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन भी स्वाध्याय है।
4. **संयम** - संयम का अर्थ है अपनी वासनाओं और तृष्णाओं में कमी करना। श्रावक का कर्तव्य है कि वह वासनाओं और तृष्णाओं पर संयम रखे।
5. **तप** - तप श्रावक की दैनिक चर्या का पाचवाँ कर्म है। श्रावक को यथाशक्य उपवास, रस-परित्याग स्वादजय आदि के रूप मे प्रतिदिन तप करना चाहिए।
6. **दान** - श्रावक का छठा दैनिक आवश्यक कर्म दान है। प्रत्येक श्रावक को प्रतिदिन श्रमण (मुनि), स्वधर्मी बन्धुओं और असहाय एवं दुखीजनों को कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए।

श्रावक की दिनचर्या :– आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए योगशास्त्र में लिखा है कि श्रावक ब्राह्ममुहूर्त में उठकर धर्म चिन्तन करे, तत्पश्चात् पवित्र होकर अपने गृह-चैत्य में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करे, फिर गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उनकी सेवाभक्ति करे। तत्पश्चात् धर्मस्थान से लौटकर आजीविका के स्थान में जाकर इस प्रकार धनोपार्जन करे कि उसके व्रत-नियमों में बाधा न पहुँचे। इसके बाद मध्याह्नकालीन साधना करे और फिर भोजन करके शास्त्रवेत्ताओं के साथ शास्त्र के अर्थ का विचार करे। पुनः संध्या समय देव, गुरु की उपासना एवं प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक क्रिया करे, फिर स्वाध्याय करके अल्प निद्रा ले। (योगशास्त्र 3/121-131)

गृहस्थ के विकास की भूमिकाएँ

जैनदर्शन निवृत्ति-परक है, लेकिन गृही-जीवन से समग्र रूप में तत्काल निवृत्त हो जाना जन-साधारण के लिए सुलभ नहीं होता। अत: निवृत्ति की दिशा में विभिन्न स्तरों का निर्माण आवश्यक है, जिससे व्यक्ति क्रमश: अपना नैतिक विकास करता हुआ साधना के अन्तिम आदर्श को प्राप्त कर सके। जैन-विचारणा में गृही-जीवन में साधना का विकास क्रम कैसे आगे बढ़ता है, इसका सुन्दर चित्रण हमें ''श्रावकप्रतिमा'' की धारणा में मिलता है। श्रावक प्रतिमाएँ गृही-जीवन में की जानेवाली साधना की विकासोन्मुख श्रेणियाँ (भूमिकाएँ) हैं, जिन पर क्रमश: चढ़ता हुआ साधक अपनी आध्यात्मिक प्रगति कर जीवन के परमादर्श ''स्वस्वरूप'' को प्राप्त कर लेता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विचारणाओं में श्रावक प्रतिमाएँ (भूमिकाएँ) ग्यारह हैं।

श्वेताम्बर सम्मत उपासक भूमिकाओं के नाम क्रमश: इस प्रकार हैं - (1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) प्रोषध, (5) नियम, (6) ब्रह्मचर्य, (7) सचित्तत्याग, (8) आरम्भत्याग, (9) प्रेष्यपरित्याग, (10) उद्दिष्टभक्त त्याग और (11) श्रमणभूत। दिगम्बर सम्मत क्रम एवं नाम इस प्रकार हैं - (1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) प्रौषध, (5) सचित्तत्याग, (6) रात्रिभोजन एवं दिवामैथुन विरति, (7) ब्रह्मचर्य, (8) आरम्भत्याग, (9) परिग्रहत्याग, (10) अनुमति त्याग और (11) उद्दिष्ट-त्याग।

ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप

1. दर्शन-प्रतिमा :– साधक की अध्यात्म-मार्ग की यथार्थता के सम्बन्ध में दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा होना ही दर्शनप्रतिमा है। विशुद्धि की प्रथम शर्त है क्रोध, मान, माया और लोभ, इस कषाय-चतुष्क की तीव्रता में मन्दता। जब तक इन कषायों का अनन्तानुबन्धी रूप समाप्त नहीं होता, दर्शनविशुद्धि नहीं होती। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मानवीय विवेक को अपहरित कर लेने वाले क्रोधादि संवेगों के तीव्र आवेग ही प्रज्ञा-शक्ति को कुण्ठित कर देते हैं। अत: जब तक इन संवेगों या तीव्र आवेगों पर विजय प्राप्त नहीं की जाती, हमारी विवेकशक्ति या प्रज्ञा सम्यक् रूप से अपना कार्य नहीं कर सकती। दर्शनप्रतिमा में साधक इन कषायों की तीव्रता को कम कर सम्यग्दर्शन अर्थात यथार्थ दृष्टिकोण प्राप्त करता है।

2. व्रत-प्रतिमा :– दृष्टिकोण की विशुद्धि के साथ जब साधक सम्यक् आचरण के क्षेत्र में चारित्रविशुद्धि के लिए आगे आता है तो वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अपनी गृहस्थ मर्यादाओं के अनुरूप आंशिक रूप से पालन करना प्रारम्भ करता है। वह गृहस्थ जीवन के 5 अणुव्रतों और 3 गुणव्रतों का निर्दोषरूप से पालन करना प्रारम्भ करता है।

3. सामायिक-प्रतिमा :– साधना का अर्थ मात्र त्याग ही नहीं वरन् कुछ प्राप्ति भी हैं। सामायिक-प्रतिमा में साधक 'समत्व' प्राप्त करता है। 'समत्व' के लिए किया जाने वाला प्रयास सामायिक कहलाता है। यद्यपि समत्व एक दृष्टि है, एक विचार है लेकिन वह ऐसा विचार नहीं जो आचरण में प्रकट न होता हो। उसे जीवन के आचरणात्मक पक्ष में उतारने के लिए सतत् प्रयास अनिवार्य है।

4. प्रोषधोपवास-प्रतिमा :– साधना की इस कक्षा में गृहस्थ उपासक गृहस्थी के झंझटों में से कुछ ऐसे अवकाश के दिन निकालता है, जब वह गृहस्थी के उत्तरादायित्वों से मुक्त होकर मात्र आध्यात्मिक चिन्तन-मनन कर सके। वह गुरु के समीप या धर्मस्थान (उपासनागृह) में रहकर आध्यात्मिक साधना में ही उस दिवस को व्यतीत करता है। प्रत्येक मास की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा इन दिनों में गृहस्थी के समस्त क्रियाकलापों से अवकाश पाकर उपवाससहित धर्मस्थान या उपासना-गृह में निवास करते हुए आत्मसाधना में रत रहना गृहस्थ की प्रोषधोपवास प्रतिमा है।

5. नियम-प्रतिमा :– इसे कायोत्सर्ग प्रतिमा एवं दिवामैथुनविरत प्रतिमा भी कहा जाता है। इसमें पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए पाँच विशेष नियम लिये जाते हैं - (1) स्नान नहीं करना, (2) रात्रि-भोजन नहीं करना, (3) धोती की एक लांग नहीं लगाना, (4) दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना, (5) अष्टमी, चतुर्दशी आदि किसी पर्व दिन में रात्रिपर्यन्त देहासक्ति त्याग कर कायोत्सर्ग करना वस्तुत: इस प्रतिमा में कामासक्ति, भोगासक्ति अथवा देहासक्ति कम करने का प्रयास किया जाता है।

6. ब्रह्मचर्य-प्रतिमा :– जब गृहस्थ साधक नियम-प्रतिमा की साधना के द्वारा कामासक्ति पर विजय पाने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है तो वह विकास की इस कक्षा में मैथुन से सर्वथा विरत होकर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार निवृत्ति की दिशा में एक और चरण बढ़ाता है। इस प्रतिमा में वह ब्रह्मचार्य की रक्षा के निमित्त 1. स्त्री के साथ एकान्त का सेवन नहीं करना, 2. स्त्री-वर्ग से अति परिचय या सम्पर्क नहीं रखना,

3. श्रृंगार नहीं करना, 4. स्त्री-जाति के रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी तथा कामवर्धक वार्तालाप नहीं करना, 5. स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना आदि नियमों का भी पालन करता है।

7. सचित्त आहारवर्जन-प्रतिमा :– पूर्वोक्तप्रतिमाओं के नियमों का यथावत् पालन करते हुए इस भूमिका में आकर गृहस्थ साधक अपनी भोगासक्ति पर विजय की एक और मोहर लगा देता है और सभी प्रकार की सचित्त वस्तुओं के आहार का त्याग कर देता हैं एवं उष्ण जल तथा अचित्त आहार का ही सेवन करता है। साधना की इस कक्षा तक आकर गृहस्थ उपासक अपने वैयक्तिक जीवन की दृष्टि से अपनी वासनाओं एवं आवश्यकताओं का पर्याप्त रूप से परिसीमन कर लेता है, फिर भी पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करने की दृष्टि से गार्हस्थिक कार्य एवं व्यवसाय आदि करता है, जिनके कारण वह उद्योगी एवं आरम्भी हिंसा से पूर्णतया बच नहीं पाता है।

8. आरम्भत्याग–प्रतिमा :– साधना की इस भूमिका में आने के पूर्व गृहस्थ उपासक का महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह अपने समग्र पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को अपने उत्तराधिकारी पर डाल दे और स्वयं निवृत्त होकर सारा समय धर्माराधना में लगाए है। इस भूमिका में रहकर गृहस्थ उपासक यद्यपि स्वयं व्यवसाय आदि कार्यो में भाग नही लेता हैं और न स्वयं कोई आरम्भ ही करता हैं, फिर भी वह अपने पुत्रादि को यथावसर व्यावसायिक एवं पारिवारिक कार्यों में मार्गदर्शन देता रहता है।

9. परिग्रह–विरत–प्रतिमा :– गृहस्थ उपासक को जब संतोष हो जाता है कि उसकी सम्पत्ति का उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उचित रूप से उपयोग हो रहा है अथवा वह योग्य हाथों में है तो वह उस सम्पत्ति पर से अपने स्वामित्व के अधिकार का भी परित्याग कर देता है और इस प्रकार निवृत्ति की दिशा में एक कदम आगे बढ़कर परिग्रह से विरत होता जाता है। फिर भी इस अवस्था में वह पुत्रादि को व्यावसायिक एवं पारिवारिक कार्यों में उचित मार्गदर्शन देता रहता है। इस प्रकार परिग्रह से विरत हो जाने पर भी वह अनुमति-विरत नहीं होता। श्वेताम्बर परम्परा में परिग्रहविरत प्रतिमा के स्थान पर भृतक प्रेष्यारम्भ वर्जन प्रतिमा है जिसमें गृहस्थ उपासक स्वयं आरम्भ करने एवं दूसरे से करवाने का परित्याग कर देता है, लेकिन अनुमति-विरत नहीं होता है।

11. श्रमणभूत-प्रतिमा :– इस अवस्था में गृहस्थ उपासक की अपनी समस्त चर्या साधु के समान होती है। उसकी वेशभूषा भी लगभग वैसी ही होती है। वह भिक्षाचर्या द्वारा ही जीवन-निर्वाह करता है और लिए चुने हुए भोजन का त्याग कर देता है।

श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से वह साधु से इस अर्थ में भिन्न होता है कि 1. पूर्वराग के का कुटुम्ब के लोगों या परिचित जनों के यहाँ ही भिक्षार्थ जाता है। 2. केश-लुञ्चन के स्थ पर मुण्डन करवा सकता है 3. साधु के समान विभिन्न ग्राम एवं नगरों में कल्पानुसार वि नहीं करता है। अपने निवास नगर में ही रह सकता है।

दिगम्बर परम्परा में इसके दो विभाग हैं - 1.क्षुल्लक और 2. ऐलक।

क्षुल्लक :– यह दिगम्बर मुनि के आचार-व्यवहार से निम्न बातों में भिन्न होत - 1. दो वस्त्र (अधोवस्त्र और उत्तरीय) रखता है, 2. केशलोच करता है या मुण्डन करव है, 3. विभिन्न घरों से माँग कर भिक्षा करता है।

ऐलक :– आचार और चर्या में यह मुनि का निकटवर्ती होता है। यह । कमण्डलु और मोरपिच्छी रखता है, केशलुञ्चन करता है, यह दिगम्बर मुनि से केवल । बात में भिन्न होता है कि लोकलज्जा के नहीं छूट पाने के कारण गुह्यांग को ढँकने के लि मात्र लंगोटी (चेल-वस्त्र) रखता है। शेष सब बातों में इसकी चर्या दिगम्बर मुनि के सम ही होती है। इस प्रकार यह अवस्था गृही-साधना की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है।

जैन धर्म के श्रावक आचार की उपर्युक्त समीक्षा करने के पश्चात् यह स्पष्ट जाता है कि जैन श्रावकों के लिए प्रतिपादित आचार के नियम वर्तमान सामाजिक सन्द में भी प्रासंगिक सिद्ध होते हैं। श्रावक-आचार के विधि-निषेधों में यूगानुकूल जो छो मोटे परिवर्तन अपेक्षित हैं, उन पर विचार किया जा सकता है और युगानुकूल श्रावक की आचार-विधि आगमिक नियमों को यथावत् रखते हुए बनायी जा सकती है। अ हमारा दुर्भाग्य यही है कि हम जैन मुनि के आचार नियमों पर तो अभी भी गम्भीर चर्च करते हैं, किन्तु श्रावक धर्म की आचार-विधि पर कोई गम्भीरता पूर्वक विचार नहीं क आज यह मान लिया गया है कि आचार सम्बन्धी विधि-निषेध मुनियों के सन्दर्भ में ही गृहस्थों की आचार-विधि है या होनी चाहिए, इस बात पर हमारा कोई लक्ष्य नहीं जात यद्यपि कभी-कभी जमीकन्द खाना चाहिए या नहीं खाना चाहिए, ऐसे छोटे-छोटे प्रश्न लिये जाते है, किन्तु श्रावक-आचार की मूलभूत दृष्टि क्या हो ? और उसके लिए युगानुव सर्वसामान्य आचार विधि क्या हो ? इस बात पर हमारी कोई दृष्टि नहीं जाती। यह एक संकेत है कि अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् ने इस प्रश्न को लेकर एक विचार-गो आयोजित की यद्यपि यह एक प्रारम्भिक बिन्दु है किन्तु मुझे विश्वास है कि यह प्रार्थि प्रयास भी कभी बृहद् रूप लेगा और हम अपने श्रावक वर्ग को एक युगानुकूल आच विधि दे पाने में सफल होंगे।

मृत्यु

- डॉ. सागरमल जैन

मृत्यु
शरीर के कारागृह से
मुक्ति का पर्व है।
यह तो
'स्व' का संकुचित घेरा तोड़
विराट् में समाने का उत्सव है।
बीज मिटकर ही वृक्ष बन पाता है
स्वयं को मिटाकर ही व्यक्ति–
अनन्त को जीवन दे पाता है।
मित्रों–
मौत से घबराने की क्या बात है?
यह तो
अनन्त के साथ
शादी की बारात है।
मिटकर बनना और बनकर मिटना
यही तो जीवन यात्रा का अनोखा है खेल
यह यात्रा तो पहुँचती वहाँ है
जहाँ 'स्व' नहीं 'सर्व' है।
आना जाना तो लगा ही रहता है
इसमें डरने की क्या बात है?
नये नये रूपों को धरने का
यही तो एक अन्दाज है।
यदि पहनने की चाह है नये कपड़े
बदलने ही होंगे पुराने,
यदि पाना है नव जीवन,
तो मरण से मित्रता करनी ही होगी।
होना ही होगा आलिंगनबद्ध मृत्यु से
मृत्यु यात्रा की समाप्ति नहीं है।
यह तो नई यात्रा का प्रस्थान पर्व है।
समझ नहीं आता कि
लोग मृत्यु से कतराते क्यों है?
अनन्त यात्रा पर निकलने से
घबराते क्यों हैं?
मृत्यु एक शाश्वत सत्य है
इससे मुखातिब होने में
क्या घबराना।
सत्य को जानकर
उससे जी चुराना क्यों?
तरह तरह से बहाना बनाना क्यों?
जीवन–धरा को
अनन्त महासागर में मिलना ही है।
फिर, किनारों के छूटने का भय कैसा?
किनारे छूटने पर ही तो मिलन संभव है–
किनारे कभी मिलते नहीं
बस महासागर बनने में छूट जाते है।
मृत्यु समग्र विनाश नहीं
यह तो रूपान्तरण है
यह जीवन की समाप्ति नहीं
यह तो नवजीवन की नवचेतना का
उत्साह है।

डॉ. सागरमल जैन

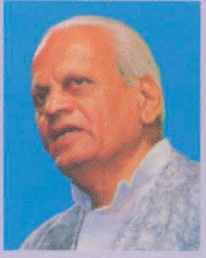

जन्म तिथि	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954 एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963 पी–एच. डी. : 1969
अकादमिक उपलब्धियाँ	:	प्रवक्ता म.प्र. शास. शिक्षा सेवा (1964–67), सहायक प्राध्यापक (1968–85), प्राध्यापक (प्रोफेसर) (1985–89), निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी (1979–97)
लेखन	:	30 पुस्तकें, 25 लघु पुस्तिकाएँ
सम्पादन	:	150 पुस्तकें
सम्पादक	:	जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना) 'श्रमण' त्रैमासिक शोध पत्रिका
पुरस्कार	:	प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार (1986,1998), स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार (1987), डिप्टीमल पुरस्कार (1992), आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान (1994), विद्यावारिधि सम्मान (2003), कलां मर्मज्ञ सम्मान (2006), जैन प्रेसीडेन्शियल अवार्ड (यू.एस.ए. 2007), गौतमगणधर पुरस्कार (2008), आचार्य तुलसी प्राकृत पुरस्कार (2009).
सदस्यः अकादमिक समितिः		विद्वत् परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति		संस्थापक एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
विदेश भ्रमण		शिकागो, राले, ह्यूस्टन, न्यूजर्सी, उत्तरी करोलीना, वाशिंगटन, सेनफांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टो, न्यूयार्क, कनाडा और लंदन यू. के.।

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है ।